# दशलक्षण महापर्व

पर्वों की चर्चा जब भी चलती है तब-तब उनका संबंध प्रायः खाने-पीने और खेलने से जोड़ा जाता है – जैसे रक्षाबंधन के दिन खीर और लड्डू खाये जाते है, भौंरे खेले जाते हैं, राखी बांधी जाती है; होली के दिन अमुक पकवान खाये जाते हैं, रंग डाला जाता है, होली जलाई जाती है; दीपावली के दिन पटाके चलाये जाते हैं, दीपक जलाये जाते हैं, लड्डू चढ़ाये जाते हैं एवं अमुक पकवान खाये जाते हैं; आदि-आदि।

पर अष्टाह्निका और दशलक्षण जैसे जैन पर्वों का संबंध खाने और खेलने से न होकर खाना और खेलना त्यागने से है। ये भोग के नहीं, त्याग के पर्व हैं; इसीलिए महापर्व हैं। इनका महत्त्व त्याग के कारण है, आमोद-प्रमोद के कारण नहीं।

आप किसी भी जैन से पूछिये कि दशलक्षण महापर्व कैसे मनाया जाता है तो वह यही उत्तर देगा कि इन दिनों लोग संयम से रहते हैं, पूजन-पाठ करते हैं, व्रत-नियम-उपवास रखते हैं, हरित पदार्थों का सेवन नहीं करते। स्वाध्याय और तत्त्व-चर्चा में ही अधिकांश समय बिताते हैं। सर्वत्र बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा शास्त्र सभाएँ होती हैं, उनमें उत्तमक्षमादि दशधर्मों का स्वरूप समझाया जाता है। सभी लोग कुछ न कुछ विरक्ति धारण करते हैं, दान देते हैं, आदि अनेक प्रकार के धार्मिक कार्यों में संलग्न रहते हैं। सर्वत्र एक प्रकार से धार्मिक वातावरण बन जाता है।

पर्व दो प्रकार के होते हैं – (१) शाश्वत और (२) सामयिक, जिन्हें हम नैकालिक और तात्कालिक भी कह सकते हैं।

तात्कालिक पर्व भी दो प्रकार के होते हैं – (१) व्यक्ति विशेष से संबंधित और (२) घटना विशेष से संबंधित।

दीपावली, महावीर जयन्ती, रामनवमी, जन्माष्टमी आदि पर्व व्यक्ति विशेष से संबंध रखने वाले पर्व हैं, क्योंकि दीपावली और महावीर जयन्ती क्रमशः महावीर के निर्वाण और जन्म से संबंध रखती हैं और रामनवमी और जन्माष्टमी राम और कृष्ण के जन्म से संबंधित हैं।

जो सभी को समानरूप से हितकारी है। अतः यह पर्व मात्र जैनों का नहीं, जन-जन का पर्व है। इसे सम्प्रदायविशेष का पर्व मानना स्वयं साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है।

यह सब का पर्व है, इसका एक कारण यह भी है कि सभी प्राणी सुखी होना चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। क्रोधादि भाव दुख के कारण हैं और स्वयं दुखस्वरूप हैं एवं उत्तमक्षमादि भाव सुख के कारण हैं और स्वयं सुखस्वरूप हैं। अतः दुख से डरने वाले सभी सुखार्थी जीवों को क्रोधादि के त्यागरूप उत्तमक्षमादि दशधर्म परम आराध्य हैं।

इसप्रकार सभी को सुखकर और सन्मार्गदर्शक होने से यह दशलक्षण महापर्व सभी का पर्व है।

क्रोधादि विभावभावों के अभावरूप उत्तमक्षमादि दश धर्मों का विकास ही जिसका मूल है, ऐसे दशलक्षण महापर्व की सार्वभौमिकता का आधार यह है कि सर्वत्र ही क्रोधादिक को बुरा, अहितकारी और क्षमादि भावों को भला और हितकारी माना जाता है। ऐसा कौनसा क्षेत्र है जहाँ क्रोधादि को बुरा और क्षमादि को अच्छा न माना जाता हो ?

यह सार्वकालिक भी इसी कारण है, क्योंकि कोई काल ऐसा नहीं कि जब क्रोधादि को हेय और उत्तमक्षमादि को उपादेय न माना जाता रहा हो, न माना जाता हो, और न माना जाता रहेगा। अर्थात् सर्वकालों में इसकी उपादेयता असंदिग्ध है। भूतकाल में भी क्रोधादि से दुख व अशान्ति तथा क्षमादि से सुख व शान्ति की प्राप्ति होती देखी गई है, वर्त्तमान में भी देखी जाती है, और भविष्य में भी देखी जायगी।

उत्तमक्षमादि धर्मों की सार्वभौमिक त्रैकालिक उपयोगिता एवं सुखकरता के कारण ही दशलक्षण महापर्व शाश्वत पर्वों में गिना जाता है और इसी कारण यह महापर्व है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यह महापर्व त्रैकालिक है, अनादि-अनन्त है, तो फिर इसके आरंभ होने की कथा क्यों कही जाती है ? कहा जाता है कि :—

"कालचक्र के परिवर्तन में कुछ स्वाभाविक उतार-चढ़ाव आते हैं, जिन्हें जैन परिभाषा में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के नाम से जाना जाता है। अवसर्पिणी में क्रमशः ह्रास और उत्सर्पिणी में

अतः आज भी इन धर्मों की आराधना की पूरी-पूरी आवश्यकता है तथा सुदूरवर्ती भविष्य में भी क्रोधादि विकारों से युक्त दुखी आत्माएँ रहने वाली हैं, अतः भविष्य में भी इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

तीनलोक में सर्वत्र ही क्रोधादि दुःख के और क्षमादि सुख के कारण हैं। यही कारण है कि यह महापर्व शाश्वत अर्थात् त्रैकालिक और सार्वभौमिक है, सब का है। भले ही सब इसकी आराधना न करें, पर यह अपनी प्रकृति के कारण सब का है, सब का था, और सब का रहेगा।

यद्यपि अष्टाह्निका महापर्व के समान यह भी वर्ष में तीन बार आता है – (१) भादों सुदी ५ से १४ तक, (२) माघ सुदी ५ से १४ तक, व (३) चैत्र सुदी ५ से १४ तक; तथापि सारे देश में विशालरूप से बड़े उत्साह के साथ मात्र भादों सुदी ५ से १४ तक ही मनाया जाता है। बाकी दो को तो बहुत से जैन लोग भी जानते तक नहीं हैं। प्राचीन काल में बरसात के दिनों में आवागमन की सुविधाओं के पर्याप्त न होने से व्यापारादि कार्य सहज ही कम हो जाते थे। तथा जीवों की उत्पत्ति भी बरसात में बहुत होती है। अहिंसक समाज होने से जैनियों के साधुगण तो चार माह तक गाँव से गाँव भ्रमण बंद कर एक स्थान पर ही रहते हैं, श्रावक भी बहुत कम भ्रमण करते थे। अतः सहज ही सत्समागम एवं समय की सहज उपलब्धि ही विशेष कारण प्रतीत होते हैं – भादों में ही इसके विशाल पैमाने पर मनाये जाने के।

वैसे तो प्रत्येक धार्मिकपर्व का प्रयोजन आत्मा में वीतराग भाव की वृद्धि करने का ही होता है, किन्तु इस पर्व का संबंध विशेष रूप से आत्म-गुणों की आराधना से है। अतः यह वीतरागी पर्व संयम और साधना का पर्व है।

पर्व अर्थात् मंगल काल, पवित्र अवसर। वास्तव में तो अपने आत्म-स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक वीतरागी दशा का प्रगट होना ही यथार्थ पर्व है, क्योंकि वही आत्मा का मंगलकारी है और पवित्र अवसर है।

धर्म तो आत्मा में प्रकट होता है, तिथि में नहीं; किन्तु जिस तिथि में आत्मा में क्षमादिरूप वीतरागी शान्ति प्रकट हो, वही तिथि पर्व कही जाने लगती है। धर्म का आधार तिथि नहीं, आत्मा है।

सकता, पनप नहीं सकता, अथवा इन दोनों के बिना सम्यक्चारित्र की सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

यद्यपि लोक में बहुत से लोग आत्म-श्रद्धान और आत्म-ज्ञान के बिना भी बंधन के भय एवं स्वर्ग-मोक्ष तथा मान-प्रतिष्ठा आदि के लोभ से क्रोधादि कम करते या नहीं करते-से देखे जाते हैं, तथापि वे उत्तमक्षमादि दशधर्मों के धारक नहीं माने जा सकते हैं।

इस संबंध में महापंडित टोडरमलजी के विचार द्रष्टव्य हैं :–

"तथा बंधादिक के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नहीं करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तो मिटा नहीं है। जैसे – कोई राजादिक के भय से अथवा महंतपने के लोभ से परस्त्री का सेवन नहीं करता, तो उसे त्यागी नहीं कहते। वैसे ही यह क्रोधादिक का त्यागी नहीं है।

तो कैसे त्यागी होता है ? पदार्थ अनिष्ट–इष्ट भासित होने से क्रोधादिक होते हैं, जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते; तब सच्चा धर्म होता है।"[1]

इसप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक क्रोधादि का नहीं होना ही उत्तमक्षमादि धर्म है।

यद्यपि उक्त दशधर्मों का वर्णन शास्त्रों में जहाँ-तहाँ मुनिधर्म की अपेक्षा किया गया है, तथापि ये धर्म मात्र मुनियों को धारण करने के लिए नहीं हैं, गृहस्थों को भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार इन को अवश्य धारण करना चाहिए। धारण क्या करना चाहिए वस्तुत: बात तो ऐसी है कि ज्ञानी गृहस्थ के भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार ये होते ही हैं, इनका पालन सहज पाया जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र में गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा (बारह भावना) और परीषहजय के साथ ही उत्तमक्षमादि दशधर्मों की चर्चा की गई है।[2] ये सब मुनिधर्म से सबंधित विषय हैं। यही कारण है कि जहाँ-जहाँ इनका वर्णन मिलता है, उनका उत्कृष्टरूप का ही वर्णन मिलता है। इनसे आतंकित होकर सामान्य श्रावकों द्वारा इनकी उपेक्षा सगत नहीं है।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२८

[2] स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः (अ० ९ सूत्र २)

# उत्तमक्षमा

क्षमा आत्मा का स्वभाव है। क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो क्रोध के अभावरूप शान्ति-स्वरूप पर्याय प्रकट होती है, उसे भी क्षमा कहते हैं। यद्यपि आत्मा क्षमास्वभावी है तथापि अनादि से आत्मा में क्षमा के अभावरूप क्रोध पर्याय ही प्रकटरूप से विद्यमान है।

जब-जब उत्तमक्षमादि धर्मों की चर्चा चलती है तब-तब उनका स्वरूप अभावरूप ही बताया जाता है। कहा जाता है – क्रोध का अभाव क्षमा है, मान का अभाव मार्दव है, माया का अभाव आर्जव है – आदि।

क्या धर्म अभावस्वरूप (Negative) है ? क्या उसका कोई भावात्मक (Positive) रूप नहीं है ? यदि है, तो क्यों नहीं उसे भावात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता ?

क्रोध नहीं करना, मान नहीं करना, छल-कपट नहीं करना, हिंसा नहीं करना, चोरी नहीं करना, आदि न जाने कितने निषेध गमा गये हैं धर्म में। धर्म क्या मात्र निषेधों का नाम है ? क्या उसका कोई विधेयात्मक पक्ष नहीं ? यदि धर्म में पर से निवृत्ति की बात है तो साथ में स्व में प्रवृत्ति की भी चर्चा कम नहीं है।

यह नहीं करना, वह नहीं करना, प्रतिबंधों की भाषा है। बंधन से छूटने का अभिलाषी मोक्षार्थी जब धर्म के नाम पर भी बंधनों की लम्बी सूची सुनता है तो घबड़ा जाता है। वह सोचता है कि यहाँ आया था बंधन से छूटने का मार्ग खोजने के लिये और यहाँ तो अनेक प्रतिबंधों में बाधा जा रहा है। धर्म तो स्वतन्त्रता का नाम है। जिसमें अनन्त बंधन हो, वह धर्म कैसा ?

तो क्या धर्म प्रतिबंधों का नाम है, अभावस्वरूप है ?

नहीं, धर्म तो वस्तु के स्वभाव को कहते हैं, अतः वह सद्भावस्वरूप ही होता है, अभावस्वरूप नहीं। पर क्या करें, हमारी भाषा उल्टी हो गई है। क्रोध का अभाव क्षमा है, मान का अभाव मार्दव है – के स्थान पर हम ऐसा क्यों नहीं कहते कि क्षमा का अभाव क्रोध है, मार्दव का अभाव मान है, आर्जव का अभाव मायाचार है, आदि।

ये सभी विकार क्रोध के ही छोटे-बड़े रूप हैं। सभी मानसिक शान्ति को भंग करने वाले हैं, महानता की राह के रोड़े हैं। इनके रहते कोई भी व्यक्ति महान नहीं बन सकता, पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हमें महान बनना है, पूर्णता को प्राप्त करना है तो इन पर विजय प्राप्त करनी ही होगी, इन्हें जीतना ही होगा। पर कैसे ? आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के अनुसार –

"अज्ञान के कारण जब तक हमें पर-पदार्थ इष्ट-अनिष्ट प्रतिभासित होते रहेंगे तब तक क्रोधादि की उत्पत्ति होती ही रहेगी, किन्तु जब तत्त्वाभ्यास के बल से पर-पदार्थों में से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि समाप्त होगी तब स्वभावतः क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होगी।"

आशय यह है कि क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण, अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मानना है। जब हम अपने सुख-दुख का कारण अपने में खोजेंगे, उनका उत्तरदायी अपने को स्वीकारेंगे, तो फिर हम क्रोध करेंगे किस पर ?

अपने अच्छे-बुरे और सुख-दुख का कर्ता दूसरों को मानना ही क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण है।

क्षमा के साथ लगा उत्तम शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली क्षमा ही उत्तमक्षमा है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है – जबकि क्षमा का संबंध क्रोध के अभाव से है तो फिर उसका सम्यग्दर्शन से क्या संबंध ? यह शर्त क्यों – कि उत्तमक्षमा सम्यग्दृष्टि को ही होती है, मिथ्यादृष्टि को नहीं ? जिसको क्रोध नहीं हुआ उसके उत्तमक्षमा हो गई, चाहे वह मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि। मिथ्यादृष्टि के उत्तमक्षमा हो ही नहीं सकती, यह अनिवार्य शर्त क्यों ?

भाई ! बात ऐसी है कि क्रोध का अभाव आत्मा के आश्रय से होता है। मिथ्यादृष्टि के आत्मा का आश्रय नहीं है, अतः उसके क्रोध का अभाव नहीं हो सकता। इसलिए मिथ्यादृष्टि के क्रोध नहीं हुआ, यह बनता ही नहीं है। उसे जो 'क्रोध नहीं हुआ' ऐसा देखने में आता है, वह तो क्रोध का प्रदर्शन नहीं हुआ वाली बात है। क्योंकि कभी-कभी जब क्रोध मन्द होता है तो क्रोध का प्रदर्शन नहीं देखा जाता है, उसे ही अज्ञानी क्रोध का अभाव समझ लेते हैं और उत्तमक्षमा कहने लगते हैं। वस्तुतः वह उत्तमक्षमा नहीं, उत्तमक्षमा का भ्रम है।

उनसे मेरा कहना है कि ऐसा कोई व्यक्ति बताइए कि जिसकी हम प्रशंसा करें और उसे क्रोध आवे। प्रशंसा सुनकर तो लोगों को मान आता है, क्रोध नहीं। क्षमा का धारी तो वह है, जिसे गालियाँ सुनकर भी क्रोध न आवे।

यहाँ तो और भी ऊँची बात की है। क्रोध की उग्रता तो दूर, मन में भी खेद तक उत्पन्न न हो, तब क्षमा है। किन्हीं बाह्य कारणों से क्रोध व्यक्त न भी करे, पर मन में खेद-खिन्न हो जावे तो भी क्षमा कहाँ रही? जैसे – मालिक ने मुनीम को डाँटा-फटकारा, तो नौकरी छूट जाने के भय से मुनीम में क्रोध के लक्षण तो प्रकट नहीं हुए, पर खेद-खिन्न हो गया तो वह क्षमा नहीं कहला सकती। इसीलिए तो लिखा है :– "गाली सुनि मन खेद न आनो।"

जो 'गाली सुनकर चांटा मारे', वह काया की विकृति वाला है। 'गाली सुनकर गाली देवे', वह वचन की विकृति वाला है। 'गाली सुनकर खेद मन में लावे', वह मन की विकृति वाला है। परन्तु 'गाली सुन मन खेद न आवे', वह क्षमाधारी है।

इसके भी आगे कहते हैं कि 'गुन को औगुन कहै बखानो।' हो हम में गुण, और सामने वाला औगुणरूप में वर्णन करे, और वह भी अकेले में नहीं – भरी सभा में, व्याख्यान में; फिर भी हम उत्तेजित न हों तो क्षमाधारी हैं।

कुछ लोग कहते हैं भाई! हम गालियाँ बर्दाश्त कर सकते हैं, पर यह कैसे संभव है कि जो दुर्गुण हममें हैं ही नहीं, उन्हें कहता फिरे। उन्हें भी अकेले में कहे तो किसी तरह सह भी लें, पर भरी सभा में, व्याख्यान में कहे तो फिर तो गुस्सा आ ही जाता है।

कवि इसी बात को तो स्पष्ट कर रहा है कि गुस्सा आ जाता है, तो वह क्षमा नहीं; क्रोध ही है। मान लो तब भी क्रोध न आवे, हम सोच लें – बकने वाले बकते हैं तो बकने दो, हमें क्या है? पर जब वह हमारी वस्तु छीनने लगे तब? वस्तु छीनने पर भी क्रोध न करें, पर वह हमें बाँध दे, मारे और भी अनेक प्रकार पीड़ा दे तब? इसी के उत्तर में कवि ने कहा है :– "वस्तु छीने, बाँध मार बहुविधि करै।"

'बहुविधि करै' शब्द में बहुत भाव भरा है। आप में जितनी सामर्थ्य हो इसका अर्थ निकालिए। आज पीड़ा देने के अनेक नए-नए उपाय निकाल लिए गए हैं। विदेशी जासूसों के पकड़े जाने पर उनसे शत्रुओं के गुप्त भेद उगलवाने के लिए अनेक प्रकार की अमानुषिक

शास्त्रों में क्रोध चार प्रकार का कहा गया है । (१) अनन्तानुबन्धी (२) अप्रत्याख्यान (३) प्रत्याख्यान, और (४) संज्वलन । चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी क्रोध का अभाव हो गया है, अतः उसे तत्सम्बन्धी उत्तम क्षमाभाव प्रकट हो गया है । पंचम गुणस्थानवर्ती अणुव्रती के अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानसम्बन्धी क्रोध के अभावजन्य उत्तमक्षमा विद्यमान है तथा छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती महाव्रती मुनिराजों के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान सम्बन्धी क्रोध का अभाव होने से वे तीनों के अभाव संबंधी उत्तमक्षमा के धारक हैं । नौवें-दसवें गुणस्थान से ऊपर वाले तो पूर्ण उत्तमक्षमा के धारक हैं ।

उक्त कथन शास्त्रीय भाषा में हुआ, अतः शास्त्रों के अभ्यासी ही समझ पाएंगे । इस सब का तात्पर्य यह है कि उत्तमक्षमा आदि का नाप बाहर से नहीं किया जा सकता है । कषायों की मंदता और तीव्रता पर उत्तमक्षमा आधारित नहीं है, उसका आधार तो उक्त कषायों का क्रमशः अभाव है । कषायों की मंदता-तीव्रता के आधार पर जो भेद पड़ता है वह तो लेश्या है ।

यद्यपि व्यवहार से मंदकषाय वाले को भी उत्तमक्षमादि का धारण करने वाला कहा जाता है, पर अन्तर की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा भी हो सकता है कि वह बाहर से तो बिल्कुल शान्त दिखाई दे किन्तु अन्तर में अनंत क्रोधी हो अर्थात् अनन्तानुबन्धी का क्रोधी हो । नववें ग्रैवेयक तक पहुँचने वाले मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि बाहर में इतने शान्त दिखाई देते हैं कि उनकी खाल खींचकर नमक छिड़कें तब भी उनकी आँख की कोर लाल न हो, फिर भी शास्त्रकारों ने कहा है कि वे उत्तमक्षमा के धारक नहीं हैं, अनन्तानुबन्धी के क्रोधी हैं, क्योंकि उनके अन्तर से आत्मा की अरुचिरूपी क्रोध का अभाव नहीं हुआ है । बाह्य में जो क्रोध का अभाव दिखाई देता है उसका कारण आत्मा के आश्रय से उत्पन्न शान्ति नहीं है, वरन् जिस चिन्तन के आधार पर वे शान्त रहे हैं, वह पराश्रित ही रहता है । जैसे — वे सोचते हैं कि यदि मैं साधु हुआ हूँ तो मुझे शान्त रहना ही चाहिए । यदि शान्त नहीं रहूँगा तो लोग क्या कहेंगे ? इस भव में मेरी बदनामी होगी और पाप का बंध होगा तो अगला भव भी बिगड़ जायगा । यदि शान्त रहूँगा तो अभी प्रशंसा होगी और पुण्यबंध होगा तो आगे भी सुख की प्राप्ति होगी ।

उन्हें आत्मा के प्रति अनन्त क्रोध है, तभी तो उन्हें आत्मचर्चा नहीं सुहाती।

हमने पर को तो अनन्त बार क्षमा किया, पर आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! एक बार अपनी आत्मा को भी क्षमा करदे, उसकी ओर देख, उसकी भी सुध ले। अनादि से पर को परखने में ही अनन्त काल गमाया है। एक बार अपनी आत्मा को भी देख, जान, परख; सहज ही उत्तमक्षमा तेरे घट में प्रकट हो जावेगी।

आत्मा का अनुभव ही उत्तमक्षमा की प्राप्ति का वास्तविक उपाय है। क्षमास्वभावी आत्मा का अनुभव करने पर, आश्रय करने पर ही पर्याय में उत्तमक्षमा प्रकट होती है।

आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि ज्ञानीजीव को उत्तमक्षमा प्रकट होती है, और आत्मानुभव की वृद्धि वालों को ही उत्तमक्षमा बढ़ती है, तथा आत्मा में ही अनन्तकाल को समा जाने वालों में उत्तमक्षमा पूर्णता को प्राप्त होती है।

अविरतसम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती और अरहन्त भगवान में उत्तमक्षमा का परिमाणात्मक (Quantity) भेद है, गुणात्मक (Quality) भेद नहीं। उत्तमक्षमा दो प्रकार की नहीं होती, उसका कथन भले दो प्रकार किया जाय। उसको जीवन में उतारने के स्तर तो दो से भी अधिक हो सकते हैं। निश्चयक्षमा और व्यवहारक्षमा कथन-शैली के भेद हैं, उत्तमक्षमा के नहीं। इसी प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टि की क्षमा, अणुव्रती की क्षमा, महाव्रती की क्षमा, अरहन्त की क्षमा – ये सब क्षमा को जीवन में उतारने के स्तर के भेद हैं, उत्तमक्षमा के नहीं; वह तो एक अभेद है।

उत्तमक्षमा तो एक अकषायभावरूप है, वीतरागभावस्वरूप है, शुद्धभावरूप है। वह कषायरूप नहीं, रागभावस्वरूप नहीं, शुभाशुभ भावरूप नहीं; बल्कि इनके अभावरूप है।

क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से समस्त प्राणियों को उत्तम क्षमाधर्म प्रकट हो, और सभी अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का अनुभव कर पूर्ण सुखी हों, इसी पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

जिस पर हमें क्रोध आता है हम उसे नष्ट कर डालना चाहते हैं, पूर्णतः बरबाद कर देना चाहते हैं; पर जिसके लक्ष्य से मान होता है उसे नष्ट नहीं करना चाहते वरन् उसे कायम रखना चाहते हैं, पर अपने से कुछ छोटेरूप में।

क्रोधी को विरोधी की सत्ता ही स्वीकृत नहीं होती, जबकि मानी को भीड़ चाहिए, नीचे बैठने वाले चाहिए, जिनसे वह कुछ ऊँचा दिखे। मानी को मान की पुष्टि के लिए एक सभा चाहिये जिसमें सब नीचे बैठे हों और वह सबसे कुछ ऊँचा। अतः मानी दूसरों को भी रखना चाहता है पर अपने से कुछ नीचे, क्योंकि मान की प्रकृति ऊँचा दिखने की है और ऊँचाई एक सापेक्ष स्थिति है। कोई नीचा हो तो ऊँचे का व्यवहार बनता है। ऊँचाई के लिए नीचाई और नीचाई के लिए ऊँचाई चाहिये।

क्रोधी क्रोध के निमित्त को हटाना चाहता है, पर मानी मान के निमित्तों को रखना चाहता है। क्रोधी कहता है – गोली से उड़ा दो, मार दो; पर मानी कहता है – नहीं; मारो मत, पर जरा दबाकर रखो।

जागीरदार लोग गाँव में किसी को पांव में सोना नहीं पहिनने देते थे, उनके मकान से ऊँचा मकान नहीं बनाने देते थे, क्योंकि उनके मकान से दूसरे का मकान बड़ा हो जाए तो उनका मान खण्डित हो जाता था।

क्रोधी वियोग चाहता है पर मानी संयोग। यदि मुझे सभा में क्रोध आ जाय तो मैं उठकर भाग जाऊँगा और यदि वश चलेगा तो सबको भगा दूँगा। पर यदि मान आवे तो भागूँगा नहीं और सबको भगाऊँगा भी नहीं, पर नीचे बिठाऊँगा और मैं स्वयं ऊपर बैठना चाहूँगा। मान की प्रकृति भगाने की नहीं, दबाकर रखने की, नीचे रखने की है; जबकि क्रोध की प्रकृति खत्म करने की है।

यही कारण है कि क्रोध नम्बर एक की कषाय है और मान नम्बर दो की।

मान के अनेक रूप होते हैं। कुछ रूप तो ऐसे होते हैं जिन्हें बहुत से लोग मान मानते ही नहीं। दीनता मान का एक ऐसा ही रूप है जिसे लोग मान नहीं मानना चाहते। दीन को मानी-अभिमानी मानने को उनका दिल स्वीकार नहीं करता। वे कहते हैं दीन जो दीन है, वह मानी कैसे हो सकता है?

क्योंकि यदि धनमद धनवालों को ही होगा, बलमद बलवानों को ही होगा, रूपमद रूपवान को ही होगा तो फिर ज्ञानमद ज्ञानवान को ही होना चाहिए; जबकि ज्ञानमद ज्ञानी को नहीं, अज्ञानी को होता है। ज्ञानमद ही क्यों, आठों ही मद अज्ञानी को ही होते हैं, ज्ञानी को नहीं।

जब ज्ञानमद अज्ञानी को हो सकता है तो धनमद निर्धन को क्यों नहीं, रूपमद कुरूप को क्यों नहीं ? इसीप्रकार बलमद निर्बल को क्यों नहीं ? आदि।

दूसरी बात यह है कि मान लो एक व्यक्ति ऐसा है जिसके पास न तो धन है, न बल है; न ही वह रूपवान है, न ही ऐश्वर्यवान है, न ही ज्ञानी एवं तपस्वी ही है; उच्च जाति एवं उच्च कुलवाला भी नहीं है तो उसके तो कोई मद होगा ही नहीं, उसे किसी भी प्रकार का मान होगा नहीं; उसे तो फिर मानकषाय के अभाव में मार्दव धर्म का धनी मानना होगा। शायद यह आपको भी स्वीकार न होगा ? क्योंकि इस स्थिति में जो धर्म का नाम भी नहीं जानते ऐसे दीन-हीन, कुरूप, निर्बल, नीच जाति कुल वाले अज्ञानी जन के भी मार्दवधर्म की उपस्थिति माननी होगी, जो कि सम्भव नहीं है।

वस्तुतः स्थिति यह है कि धन के संयोग से अपने को बड़ा माने वह मानी। मात्र धन के होने से कोई मानी नहीं हो जाता, पर उसके होने से अपने को बड़ा मानकर मान करने से मानी होता है। इसी प्रकार धन के न होने से या कम होने से अपने को छोटा माने वह दीन है, मात्र धन की कमी या अभाव से कोई दीन नहीं हो जाता – हो जावे तो मुनिराजों को दीन मानना होगा, क्योंकि उनके पास तो धन होता ही नहीं, वे रखते ही नहीं। वे तो मार्दवधर्म के धनी हैं, वे दीन कैसे हो सकते हैं ? धन के अभाव से अपने को छोटा अनुभव कर दीनता लावे तो दीन होता है।

धनादि के अभाव में भी धनादिमदों की उपस्थिति मानने में हमें परेशानी इसलिए होती है कि हम धनादि के संयोग से मान की उत्पत्ति मान लेते हैं। हम मान का नाप पर से करते हैं। मानकषाय और मार्दवधर्म दोनों ही आत्मा की पर्यायें हैं, अतः उनका नाप अपने से ही होना चाहिए, पर से नहीं।

दूध लीटर से नापा जाता है और कपड़ा मीटर से। यदि कोई कहे दो लीटर कपड़ा दे देना या दो मीटर दूध देना तो दुनियाँ उसे मूर्ख ही समझेगी, क्योंकि ऐसा बोलने वाला न तो लीटर को ही

लौकिक दृष्टि से भले ही उसमें भेद हो, पर प्राध्यात्मिक दृष्टि से विशेषकर मार्दवधर्म के सन्दर्भ में प्रभिमान और दीनता दोनों मान के ही रूप हैं, उनमें कोई विशेष भेद नहीं। मार्दवधर्म दोनों के ही प्रभाव में उत्पन्न होने वाली स्थिति है।

अभिमान और दीनता दोनो मे प्रकड़ है; मार्दवधर्म की कोमलता, सहजता दोनों मे हो नही है। मानी पीछे को भुकता है, दीन प्रागे को; सीधे दोनो ही नहो रहते। मानी ऐसे चलता है जैसे वह चौड़ा हो और बाजार सकड़ा एवं दीन ऐसे चलता है जैसे वह भारी बोझ से दबा जा रहा हो।

*प्रत: यह एक निश्चित तथ्य है कि प्रभिमान और दीनता दोनो* ही विकार हैं, प्रात्म-शान्ति को भंग करने वाले है और दोनों के प्रभाव का नाम ही मार्दवधर्म है।

समानता प्राने पर मान जाता है। मार्दवधर्म मे समानता का तत्त्व विद्यमान है। 'सभी प्रात्माएँ समान हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं।' यह मान्यता सहज ही मानकषाय को कम करती है, क्योंकि बडप्पन के भाव का नाम ही तो मान है। 'मैं बड़ा और जगत छोटा'—यह भाव मानस्वरूप है। तथा 'मैं छोटा और जगत बड़ा'—यह भाव दीनतारूप है; यह भी मान का ही रूपान्तर है—जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

प्रार्हतमत में 'मेरा स्वरूप सिद्ध समान है' कहकर भगवान को भी समानता के सिद्धान्त के भीतर ले लिया गया है। 'मैं किसी से बड़ा नहीं' मानने वाले को मान एवं 'मैं किसी से छोटा नहीं' मानने वाले को दीनता प्राना सम्भव नहीं।

छोटे-बड़े का भाव मान है और समानता का भाव मार्दव। सब समान हैं, फिर मान कैसा ? पर हमने 'स' छोड़कर 'मान' रख लिया है। यदि मान हटाना है तो सबमें विद्यमान समानता को जानिए, मानिए; मान स्वयं भाग जाएगा और सहज ही मार्दवधर्म प्रकट होगा।

जैसा हो वैसा अपने को मानने का नाम मान नहीं है, क्योंकि उसका नाम तो सम्यश्रद्धान, सम्यग्ज्ञान है। बल्कि जैसा है नहीं वैसा माननेसे, तथा जैसा है नहीं वैसा मानकर प्रभिमान या दीनता करने से मान होता है, मार्दवधर्म खण्डित होता है। यदि मात्र अपने को

ज्ञानी मानने से मान होता हो, तो फिर ज्ञानी को भी ज्ञानमद मानना होगा क्योंकि वह भी तो अपने को ज्ञानी मानता है। केवलज्ञानी भी अपने को केवलज्ञानी मानते – जानते हैं, तो क्या वे भी मानी हैं ?

नहीं, कदापि नहीं। ज्ञानमद केवलज्ञानी को नहीं होता, क्षयोपक्षम ज्ञान वालों को होता है। क्षयोपशम ज्ञान वालों में भी ज्ञानमद सम्यग्ज्ञानी को नहीं, मिथ्याज्ञानी को होता है। मिथ्याज्ञानी को अज्ञानी भी कहा जाता है।

संयोग को संयोगरूप जानने से भी मान नहीं होता, क्योंकि सम्यग्ज्ञानी-चक्रवर्ती अपने को चक्रवर्ती जानता ही है, मानता भी है; किन्तु साथ में यह भी जानता है कि यह सब संयोग है, मैं तो इनसे भिन्न निराला तत्त्व हूँ। यही कारण है कि उसके अनन्तानुबन्धी का मान नहीं होता। यद्यपि कमजोरी के कारण अप्रत्याख्यानादि का मान रहता है तथापि मान के साथ एकत्वबुद्धि का अभाव है, अतः उसके [illegible] में मार्दवधर्म विद्यमान है।

अनन्तानुबन्धी मान का मूल कारण शरीरादि परपदार्थ एवं उनकी [illegible] और अल्पविकसित अवस्थाओं में एकत्वबुद्धि है। मुख्यतः हम इसे शरीर के साथ एकत्वबुद्धि के आधार पर समझ सकते हैं – क्योंकि रूपमद, कुलमद, जातिमद, बलादिमद शरीर से ही सम्बन्ध रखते हैं। रूपमद शरीर की कुरूपता और सुरूपता के आधार से ही होता है। इसीप्रकार बलमद भी शरीर के बल से सम्बन्धित है तथा जाति और कुल का निर्णय भी जन्म से सम्बन्ध रखने के कारण शरीर से ही जुड़ जाता है।

जो व्यक्ति शरीर को ही अपने से भिन्न पदार्थ मानता है, [illegible] भी नहीं रखता; वह शरीर के सुन्दर होने से अपने को सुन्दर कैसे मान सकता है? इसीप्रकार उसके कुरूप होने से अपने को कुरूप कैसे मानेगा ?

[illegible] है कि [illegible] आत्मा [illegible] है। [illegible] उसके [illegible] में उसे मान कैसे [illegible] और निकृष्ट [illegible] शरीर [illegible] असुन्दर [illegible] के [illegible] की [illegible] है। [illegible] भूतार्थी में

मोटर रोक देने वाले गामा पहलवान के बाजुओं में मरते समय मक्खी उड़ाने की भी शक्ति न रही थी। क्या कोई दावे के साथ कह सकता है कि जो शक्ति, जो सौंदर्य और जो सम्पत्ति आज उसके पास है वह कल भी रहेगी? काया और माया को बिखरते क्या देर लगती है? ऐसी स्थिति में मान क्या किया जाय और किस पर किया जाय?

इसीप्रकार जाति, कुलादि पर भी घटित कर लेना चाहिये।

ऐश्वर्यमद बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध रखता है तथा ज्ञानमद आत्मा की अल्पविकसित अवस्था के आश्रय से होने वाला मद है। जिसे अपनी पूर्णविकसित पर्याय केवलज्ञान का पता है, उसे क्षयोपशमरूप अल्पज्ञान का अभिमान कैसे हो सकता है? कहाँ भगवान का अनन्तज्ञान और कहाँ अपना उसका अनन्तवाँ भाग ज्ञान, क्या करना उसका अभिमान? और क्षयोपशम ज्ञान क्षणभंगुर भी तो है। अच्छा-भला पढ़ा-लिखा आदमी क्षण भर में पागल भी तो हो सकता है?

धन-जन-तन आदि संयोगों के आधार पर किया गया मान अन्ततः खण्डित होना ही है; क्योंकि संयोग का वियोग निश्चित है, अतः संयोग का मान करने वाले का मान खण्डित होना भी निश्चित है।

मार्दवधर्म की प्राप्ति के लिए देहादि में से एकत्वबुद्धि तोड़नी होगी। देहादि में एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व के कारण होती है, अतः सर्वप्रथम मिथ्यात्व का ही अभाव करना होगा, तभी उत्तमक्षमा-मार्दवादि धर्म प्रकट होंगे, अन्य कोई मार्ग नहीं है। मिथ्यात्व का अभाव आत्मदर्शन से होता है; अतः आत्मदर्शन ही एक मात्र कर्त्तव्य है; उत्तमक्षमामार्दवादि धर्म अर्थात् सुख-शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

देहादि में परबुद्धि के साथ-साथ आत्मा में उत्पन्न होने वाली क्रोधमानादि कषायों में हेयबुद्धि भी होनी चाहिये। उनमें हेयबुद्धि हुए बिना उनका अभाव होना सम्भव नहीं है। यद्यपि अज्ञानी भी कहता तो यही है – मान खोटी चीज है इसे छोड़ना चाहिए तथापि उसके अन्तर में मानादि के प्रति उपादेयबुद्धि बनी रहती है। हेय तो शास्त्रों में लिखा है इसलिये कहता है। मन से तो वह मान-सम्मान चाहता ही है, अतः मान रखने के अनेक रास्ते निकालता है। कहता

है – मान नहीं, पर आदमी में स्वाभिमान तो होना ही चाहिये। स्वाभिमान किसे कहते हैं, इसकी तो उसे कुछ खबर ही नहीं है; मान के ही किसी अंश को स्वाभिमान मान लेता है।

मान लीजिये आपने मुझे प्रवचन के लिए बुलाया, पर जो स्टेज बनाया तथा प्रवचन सुनने के लिए जितनी जनता जुड़ी, वह स्टेज व उतनी जनता मुझे अपनी विद्वत्ता की तुलना में अपर्याप्त लगे तथा मैं कहने लगूं कि इतनी-सी स्टेज, इस पर एक चौकी और लगाओ। इतने बड़े विद्वान् के लिए इतनी नीची स्टेज बनाते शर्म नहीं आई और जनता भी इतनी-सी।

आप कहेंगे पंडितजी मानी हैं और मैं कहूंगा कि यह मान नहीं, स्वाभिमान है। विद्वान् को मानी नहीं पर स्वाभिमानी तो होना ही चाहिये, उसकी इज्जत तो होनी ही चाहिए।

समझ में नहीं आता कि इसमें बेइज्जती की किसने? क्या कम जनता एवं नीचे स्टेज से किसी की बेइज्जती हो जाती है? मनोवैज्ञानिक मान और स्वाभिमान के बीच विभाजन रेखा तो खींचनी ही होगी – कि कहाँ तक वह स्वाभिमान कहलाएगा और कहाँ से मान। आखिर में होता यही है कि लोग उसे मानी कहते रहते हैं और मान करने वाला उसी को स्वाभिमान नाम देता रहता है।

और भी अनेक प्रसंगों पर इस प्रकार के दृश्य देखे जा सकते हैं।

स्वाभिमान शब्द स्व+अभिमान से बना है। स्व शब्द निज का वाची है, इसमें स्टेज और जनता कहाँ से आ जाते हैं। वस्तुतः तो अपनी आत्मा की पूर्ण शक्तियों को पहिचान कर उनके आश्रय से [illegible] दीन न होना भी स्वाभिमान है। स्वाभिमान का [illegible] पहिचान कर स्वाभिमान के नाम पर अज्ञानी मान ही [illegible] है।

[illegible] नाम [illegible]-दिया जाता है। कहते हैं कि [illegible] समझते हैं कि मान तो सम्यक् ही होता है, [illegible] है – सम्+मान=सम्मान [illegible]। यदि मान भी सम्यक् होगा तो फिर [illegible]

[illegible] है, उसमें हम मानी [illegible] जाते हैं। आचार्यों ने

चारों गतियों में चार कषायों की मुख्यता बताते हुए मनुष्य गति में मान की मुख्यता बताई है। आदमी सब कुछ छोड़ सकता है – घर-बार, स्त्री-पुत्रादि; यहाँ तक कि तन के वस्त्र भी, पर मान छोड़ना बहुत कठिन है। आप कहेंगे कैसी बात करते हो ? पद की मर्यादा तो रखनी ही पड़ती है। पर भाई ! समस्त पदों के त्याग का नाम साधु पद है, यह बात क्यों भूल जाते हो ?

रावण मान के कारण ही नरक गया। यद्यपि वह सीताजी को हर कर ले गया था तथापि उसने उन्हें हाथ नहीं लगाया। अन्त में तो उसने सीताजी को ससम्मान राम को वापस करने का भी निश्चय कर लिया था, किन्तु उसने सोचा कि बिना राम से लड़े और बिना जीते देने पर मान भंग हो जाएगा। दुनियाँ कहेगी कि डर कर सीता वापस कर दी है। अतः उसने संकल्प किया कि पहिले राम को जीतूंगा, फिर सीता को ससम्मान वापस कर दूंगा।

देखो ! सीता वापस देना स्वीकार, पर जीतकर; हारकर नहीं। सवाल सीता का नहीं; मूंछ का था, मान का था। मूंछ के सवाल के कारण सैकड़ों घर बर्बाद होते सहज ही देखे जा सकते हैं। मनुष्यगति में अधिकतर झगड़े मान के खातिर ही होते हैं। न्यायालयों के आस-पास मूंछों पर ताव देते लोग सर्वत्र देखे जा सकते हैं।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि आप कैसी बातें करते हैं ? मान-सम्मान की चाह तो ज्ञानी के भी हो सकती है, होती भी है। देखने पर पुराणों में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिल जावेंगे।

हाँ ! हाँ !! क्यों नहीं, अवश्य मिल जावेंगे। पर मान की चाह अलग बात है और मानादि कषायों में उपादेयबुद्धि अलग बात है। मानादि कषायों में उपादेयबुद्धि मिथ्यात्व भाव है, उसके रहते तो उत्तममार्दवादि धर्म प्रकट ही नहीं हो सकते; मान की चाह और मान कषाय की उपस्थिति में आंशिकरूप से मार्दवादि धर्म प्रकट हो सकते हैं, क्योंकि मान की चाह और मानकषाय की आंशिक उपस्थिति चारित्र-मोह का दोष है, वह क्रमशः ही जायगा, एक साथ नहीं।

सम्यग्दृष्टि के यद्यपि अनन्तानुबंधी मान चला गया है तथापि अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मान तो विद्यमान है, उनका प्रकट रूप तो ज्ञानी के भी दिखाई देगा ही। इसी प्रकार अणुव्रती के प्रत्याख्यान और संज्वलन सम्बन्धी तथा महाव्रती

मुनिराजों के भी संज्वलन सम्बन्धी मानादि की उपस्थिति रहेगी ही। मानादि कषायें छूटेंगी तो भूमिकानुसार ही; पर उनमें उपादेयबुद्धि, उन्हें अच्छा मानना तो छूटना ही चाहिए; इसके बिना तो धर्म का आरम्भ भी नहीं हो सकता।

आश्चर्य की बात तो यह है कि हम उन्हें उपयोगी और उपादेय मानने लगे हैं। कहते हैं कि गृहस्थी में थोड़ा क्रोध, मान आदि तो होना ही चाहिए, अन्यथा काम ही न चलेगा। यदि थोड़ा-बहुत भी क्रोध नहीं रहा तो फिर बच्चे भी कहना न मानेंगे। सारा अनुशासन-प्रशासन समाप्त हो जायगा। थोड़ा स्वभाव तेज हो तो सब काम ठीक होता है, समय पर होता है। इसीप्रकार यदि हम बिलकुल भी मान न रखेंगे तो फिर कोई भटे के भाव भी नहीं पूछेगा। आन-बान-शान के लिए भी थोड़ा-सा मान जरूरी है।

अज्ञानी समझता है – अनुशासन-प्रशासन और मान-सम्मान क्रोध-मान के द्वारा होते हैं, जबकि इनका क्रोध-मान के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

एक माताजी थे। उन्हें खाँसी उठा करती थी। उनसे कहा गया कि खाँसी का इलाज करा लीजिए, क्योंकि कहावत है कि 'लड़ाई की जड़ हाँसी और रोग की जड़ खाँसी'। वे कहने लगे – भाई! भरे-पूरे घर में थोड़ी खाँसी तो चाहिए। क्यों? ऐसा पूछने पर कहने लगे – तुम समझते तो हो नहीं। बहू-बेटियों वाला बड़ा घर है। घर में खाँसते-खाँसते आओ तो सब सावधान हो जाते हैं, इससे उनकी और हमारी दोनों की इज्जत बनी रहती है।

जब उनसे कहा गया कि खाँसी का तो इलाज करवा लीजिए, [illegible] के लिए [illegible] किया करना। तब तुनक कर बोले – [illegible]; हम नकली काम नहीं करते, [illegible]।

[illegible] अलग बात है और खाँसी को [illegible] अलग बात। जिसने खाँसी को ही [illegible] में [illegible]। इसीप्रकार मानादि की चाह या मानादि [illegible] और उन्हें उपयोगी और [illegible] धर्म प्रकट होना [illegible]।

मानादि कषायें भूमिकानुसार क्रमशः छूटती हैं, पर उनमें उपादेयबुद्धि एक साथ ही छूट जाती है। इनमें उपादेयबुद्धि छूटे बिना धर्म का आरम्भ ही नहीं होता।

तो क्या अन्त में यही निष्कर्ष रहा कि क्रोध-मानादि कषाय नहीं करना चाहिए, इन्हें छोड़ देना चाहिये ?

नहीं, कहा था न कि क्रोध-मान छोड़े नहीं जाते हैं, छूट जाते हैं। बहुत से लोग मुझसे कहते हैं कि आप बीमार बहुत पड़ते हैं, जरा कम पड़ा कीजिए न। मैं पूछता हूँ कि क्या मैं बीमार सोच-समझकर पड़ता हूँ – जो कम पड़ा करूँ, अधिक नहीं। अरे भाई ! मेरा बस चले तो मैं बीमार पड़ूँ ही नहीं।

इसीप्रकार क्या कोई क्रोध-मानादि कषायें सोच-समझकर करता है। अरे ! उसका वश चले तो वह कषाय करे ही नहीं, क्योंकि प्रत्येक समझदार प्राणी कषायों को बुरा समझता है और यह भी चाहता है कि मैं कषाय करूँ ही नहीं, पर उसके चाहने से होता क्या है ? क्रोध-मानादि कषायें हो ही जाती हैं, हो क्या जाती हैं, सदा बनी ही रहती है; कभी कम, कभी अधिक; कभी मंद, कभी तीव्र। अनादिकाल से एक भी अज्ञानी आत्मा आज तक कषाय किए बिना एक समय भी नहीं रहा। यदि एक बार भी, एक समय को भी कषाय भाव का पूर्णतः अभाव हो जावे तो फिर कषाय हो ही नहीं सकती।

अब यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर मान क्यों उत्पन्न होता है और मिटे कैसे ? इसकी उत्पत्ति का मूल कारण क्या है और इसका अभाव कैसे किया जाय ?

जब तक यह आत्मा परपदार्थों को अपना मानता रहेगा तब तक अनन्तानुबन्धी मान की उत्पत्ति होती ही रहेगी। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि परपदार्थ की उपस्थितिमात्र मान का कारण नहीं है। तिजोरी में लाखों रुपया पड़ा रहता है, पर तिजोरी को मान नहीं होता, उन्हें सम्भालने वाले मुनीम को भी मान नहीं होता; पर उनसे दूर बैठे सेठ को होता है, क्योंकि सेठ उन्हें अपना मानता है।

सेठ अपने को कपड़ामिल का मालिक समझता है। कपड़ा-मिल छूटने से मान नहीं छूटेगा; क्योंकि राष्ट्रीयकरण हो जाने पर मिल तो छूट जायगा, पर सेठ को मान की जगह दीनता हो जायेगी।

अभी तक अपने को मिल का मालिक समझकर मान करता था, अब उसके अभाव में अपने को दीन अनुभव करेगा ।

मिल छूटने से नहीं, पर छोड़ने से तो मान छूट जायगा ?

तब भी नहीं, क्योंकि छोड़ने से छोड़ने का मान हो जायगा, मान छोड़ने के लिए उसे अपना मानना छोड़ना होगा । मान का आधार 'पर' नहीं, पर को अपना मानना है ।

जो पर को अपना माने उसे मुख्यतः मान होता है । अतः मान छोड़ने के लिए पर को अपना मानना छोड़ना होगा । पर को अपना मानना छोड़ने का अर्थ यह है कि निज को निज और पर को पर जानना होगा, दोनों को भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र सत्तायुक्त पदार्थ मानना ही पर को अपना मानना छोड़ना है, ममत्वबुद्धि छोड़ना है ।

पर में ममत्वबुद्धि छोड़नी है और रागादि भावों में उपादेयबुद्धि छोड़नी है । उनके छूट जाने पर मुख्यतः मान उत्पन्न ही न होगा, विशेषकर अनन्तानुबंधी मान तो उत्पन्न ही न होगा । चारित्र-दोष और कमजोरी के कारण अप्रत्याख्यानादि मान कुछ काल तक रहेंगे, पर वे भी उसी ज्ञान-श्रद्धान के बल पर होने वाली आत्मलीनता से क्रमशः क्षीण होते जावेंगे और एक दिन ऐसा आयेगा कि मार्दव-स्वभावी आत्मा पर्याय में भी पूर्ण मार्दवधर्म से युक्त हो जायगा, मानादि का लेश भी न रहेगा ।

वह दिन सबको शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त हो, इस पवित्र भावना के साथ मार्दवधर्म की चर्चा से विराम लेता हूँ ।

# उत्तमआर्जव

क्षमा और मार्दव के समान ही आर्जव भी आत्मा का स्वभाव है। आर्जवस्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में छल-कपट मायाचार के अभावरूप शान्ति-स्वरूप जो पर्याय प्रकट होती है, उसे भी आर्जव कहते हैं। यद्यपि आत्मा आर्जवस्वभावी है तथापि अनादि से ही आत्मा में आर्जव के अभावरूप मायाकषायरूप पर्याय ही प्रकट रूप से विद्यमान है।

'ऋजोर्भाव: आर्जवम्' ऋजुता अर्थात् सरलता का नाम आर्जव है। आर्जव के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली सरलता ही उत्तमआर्जव धर्म है। उत्तमआर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित वीतरागी सरलता।

आर्जवधर्म की विरोधी मायाकषाय है। मायाकषाय के कारण आत्मा में स्वभावगत सरलता न रहकर कुटिलता उत्पन्न हो जाती है। मायाचारी का व्यवहार सहज एवं सरल नहीं होता। वह सोचता कुछ है, बोलता कुछ है, और करता कुछ है। उसके मन-वचन-काय में एकरूपता नहीं रहती। वह अपने कार्य की सिद्धि छल-कपट के द्वारा ही करना चाहता है।

मायाचारी की प्रवृत्ति का चित्रण पंडित टोडरमलजी ने इस प्रकार किया है :—

"जब इसके माया कषाय उत्पन्न होती है तब छल द्वारा कार्य सिद्ध करने की इच्छा होती है। उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है, नाना प्रकार कपट के वचन कहता है, शरीर की कपटरूप अवस्था करता है, बाह्यवस्तुओं को अन्यथा बतलाता है, तथा जिनमें अपना मरण जाने ऐसे भी छल करता है। कपट प्रगट होने पर स्वयं का बहुत बुरा हो, मरणादिक हो उनको भी नहीं गिनता। तथा माया होने पर किसी पूज्य व इष्ट का भी सम्बन्ध बने तो उनसे भी छल करता है, कुछ विचार नहीं रहता। यदि छल द्वारा कार्य सिद्धि न हो तो स्वयं बहुत संतापवान होता है, अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है—ऐसी अवस्था माया होने पर होती है।"[1]

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५२

मायाचारी व्यक्ति अपने सब कार्य मायाचार से ही सिद्ध करना चाहता है। वह यह नहीं समझता कि काठ की हांडी दो बार नहीं चढ़ती। एक बार मायाचार प्रकट हो जाने पर जीवनभर को विश्वास उठ जाता है। धोखा-धड़ी से कभी-कभी और किसी-किसी को ही ठगा जा सकता है, सदा नहीं और सबको भी नहीं।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि लौकिक कार्यों की सिद्धि मायाचार से नहीं, पूर्व पुण्योदय से होती है और पारलौकिक कार्य की सिद्धि में पांचों समवायों के साथ पुरुषार्थ प्रधान है।

कार्यसिद्धि के लिए कपट का प्रयोग कमजोर व्यक्ति करता है। सबल व्यक्ति को अपनी कार्यसिद्धि के लिए कपट की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उसकी प्रवृत्ति तो अपने जोर के जरिये कार्य सिद्ध करने की रहती है।

यह भी बात नहीं कि मायाचार की प्रवृत्ति मात्र किसी को ठगने के लिए ही की जाती हो, कुछ लोग मनोरंजन के लिए या आदतवश भी ऐसा करते हैं। उन लोगों को यहाँ की वहाँ भिड़ाने में कुछ आनन्द-सा आता है। ऐसे लोग अपने छोटे से छोटे मनोरंजन के लिए दूसरों को बड़े से बड़े संकट में डालने से नहीं चूकते।

आजकल सभ्यता के नाम पर भी बहुत-सा मायाचार चलता है। [illegible] सीधी-सच्ची बात तो लोग सुनना भी पसन्द नहीं करते। यह भी एक कारण है कि लोग अपने भाव सीधे रूप में [illegible] टेढ़े रूप में व्यक्त करते हैं। सभ्यता के विकास ने आदमी को [illegible] बना दिया है। आज के आदमी के [illegible] मीठी-चुपड़ी बातें करना और अन्दर से काट करना [illegible]

वह हमेशा भयाक्रान्त भी बना रहता है। उसे यह भय सदा बना रहता है कि कपट खुल जाने पर उसकी बहुत बुरी हालत होगी, वह महान कष्ट में पड़ जायेगा। बलवानों के साथ किया गया कपट-व्यवहार खुलने पर बहुत खतरनाक साबित होता है। खतरा तो कपट खुलने पर होता है, पर खतरे की ग्राशंका से कपटी सदा ही भयाक्रान्त रहता है।

सशंकित और भयाक्रान्त व्यक्ति कभी भी निराकुल नहीं हो सकता। उसका चित्त निरन्तर ग्राकुल-व्याकुल और अशांत रहता है। अशांत-चित्त व्यक्ति कोई भी कार्य सही रूप में एवं सफलतापूर्वक नहीं कर सकता है, फिर धर्म की साधना और आत्मा की आराधना तो बहुत दूर की बातें हैं।

मायाचारी व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता। यहाँ तक कि माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी-पुत्र का भी उस पर से विश्वास उठ जाता है।

यही कारण है कि मायाकषाय का वर्णन करते हुए श्री शुभचन्द्राचार्य ने 'ज्ञानार्णव' के उन्नीसवें सर्ग में लिखा है :–

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेर्वासमन्दिरम्।<br>
पापपङ्कमहागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः ।।५८।।<br>
अर्गलेवापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः।<br>
शीलशालवने वह्निर्मायेयमवगम्यताम् ।।५६।।

बुद्धिमान लोग कहते हैं कि माया को इस प्रकार जानो कि वह अविद्या की जन्मभूमि, अपयश का घर, पापरूपी कीचड़ का बड़ा भारी गड्ढा, मुक्ति-द्वार की अर्गला, नरकरूपी घर का द्वार और शीलरूपी शालवृक्ष के वन को जलाने के लिए अग्नि है।

मायाकषाय के अभाव का नाम ही ग्रार्जवधर्म है।

ग्रार्जवधर्म और मायाकषाय की चर्चा जब भी चलती है तब उसे मन-वचन-काय के माध्यम से ही समझा-समझाया जाता है। कहा जाता है कि मन-वचन और काय की एकरूपता ही आर्जवधर्म है और इनकी विरूपता ही ग्रार्जवधर्म की विरोधी मायाकषाय है। यह उपदेश भी दिया जाता है कि जैसा मन में हो वैसा ही वाणी से कहना चाहिये, तथा जैसा बोला हो वैसा ही करना चाहिये। इसे ही ग्रार्जवधर्म बताया जाता है। तथा मन में और, वचन में और,

करे कुछ और, यह माया है—ऐसा कहा जाता है। मन-वचन-काय की इस विरूपता को ही वक्रता, कुटिलता आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है।

किन्तु यह सब स्थूल कथन है। सूक्ष्मता से विचार करने पर इस सन्दर्भ में कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं।

आर्जवधर्म और मायाकषाय की उक्त परिभाषाएँ स्वीकार करने पर आर्जवधर्म और मायाकषाय की उपस्थिति मन-वचन-काय वालों के ही मानना होगी, क्योंकि मन-वचन-काय की एकरूपता या विरूपता मन-वचन-काय वालों के ही सम्भव है; जिनके मन-वचन-काय ही नहीं, उनके नहीं। मन-वचन-काय के अभाव में उनमें एकरूपता या विरूपता का प्रश्न ही नहीं उठता।

सिद्धों के मन-वचन-काय का अभाव है, अतः उक्त परिभाषा के अनुसार उनके आर्जवधर्म सम्भव नहीं है, जबकि उनके आर्जवधर्म होता है। उनमें आर्जवधर्म की सत्ता शास्त्रसंगत तो है ही, युक्तिसंगत भी है। उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव आदि आत्मा के धर्म हैं एवं वे आत्मा की स्वभाव-पर्यायें भी हैं, उनका—सम्पूर्णधर्मी एवं सम्पूर्ण स्वभाव-पर्यायों से युक्त सिद्ध जीवों में पाया जाना अवश्यम्भावी है, क्योंकि [illegible] है।

वाणी और काया का अभाव होने से विरूपता तो सम्भव नहीं है, तो फिर उनके – मन-वचन-काय की विरूपता है परिभाषा जिसकी ऐसी – मायाकषाय की उपस्थिति कैसे मानी जावेगी ? मायाकषाय के अभाव में उनके आर्जवधर्म मानना होगा जो कि असम्भव है, क्योंकि शास्त्रों में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि एकेन्द्रिय के ही क्या, एकेन्द्रिय से असैनी पचेन्द्रिय तक सभी जीवों के चारों कषायें होती हैं, भले ही उनका प्रकटरूप दिखाई न दे ।

दूसरे मन-वचन-काय की एकरूपता उल्टी भी तो हो सकती है । जैसे तीनों ही विक्रेता आठ रुपये मीटर के कपड़े का भाव बीस रुपया मीटर बतावें, तो क्या वे सही हो जावेंगे ? नहीं, कदापि नहीं; जबकि उन तीनों के बोलने में एकरूपता दिखाई देगी, क्योंकि बुद्धिपूर्वक पूर्वनियोजित बेईमानी में भी एकरूपता सहज ही पाई जाती है ।

उसीप्रकार जैसे किसी के मन में खोटा भाव आया, उसे उसने वाणी में भी व्यक्त कर दिया और काया से वैसा कार्य भी कर डाला तो क्या उसके आर्जवधर्म प्रकट हो जावेगा ? फिर तो आर्जवधर्म प्राप्त करने के लिए मन में आये प्रत्येक खोटे भाव को वाणी में लाना और क्रियात्मकरूप देना अनिवार्य हो जायगा, जो कि किसी भी स्थिति में इष्ट नहीं हो सकता ।

'मन में होय सो वचन उचरिये' के सन्दर्भ में एक बात यह भी विचारणीय है कि – क्या आर्जवधर्म के लिए बोलना जरूरी है ? क्या बिना बोले आर्जवधर्म की सत्ता सम्भव नहीं है ? जो भावलिंगी सत मौनव्रत के धारी हैं क्या उनके आर्जवधर्म नहीं है ? बाहुबली दीक्षा लेने के बाद एक वर्ष तक ध्यानस्थ खड़े रहे, कुछ बोले ही नहीं; तो क्या उनके आर्जवधर्म नहीं था ? था, अवश्य था । तो फिर आर्जवधर्म होने के लिए बोलना जरूरी नहीं रहा ।

यदि जैसा मन में हो वैसा ही बोल दें, तो क्या आर्जवधर्म हो जायगा ? नहीं, क्योंकि इसप्रकार तो फिर विकृत-मन और विकृत-वाणी वाला अर्द्धविक्षिप्त व्यक्ति आर्जवधर्म का धनी हो जायगा, क्योंकि उसके मन में जो आता वह वही बक देता है ।

जिसप्रकार बोलने के सम्बन्ध में यहाँ स्पष्ट किया गया है, उसी प्रकार करने के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए ।

आर्जवधर्म और मायाकषाय ये दोनों ही जीव के भाव हैं एवं मन-वचन-काय पुद्गल की अवस्थाएँ हैं। जीव और पुद्गल दोनों जुदे-जुदे द्रव्य हैं और उनकी परिणतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। आर्जव धर्म आत्मा का स्वभाव एवं स्वभाव-भाव है तथा मायाकषाय आत्मा का विभाव-भाव है। स्वभाव और स्वभाव-भाव होने के लिए तो पर की आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठता; विभाव-भाव में भी पर निमित्तमात्र ही होता है। निमित्त भी कर्मोदय तथा अन्य बाह्य पदार्थ हैं, मन-वचन-काय नहीं। अतः मन-वचन-काय से आर्जवधर्म और मायाकषाय के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यद्यपि यह सत्य है कि आर्जवधर्म के होने के लिए मन-वचन-काय की आवश्यकता नहीं, क्योंकि मन-वचन-कायरहित सिद्धों के वह विद्यमान है। इसीप्रकार मायाकषाय की उपस्थिति के लिए भी तीनों की अनिवार्य उपस्थिति आवश्यक नहीं, क्योंकि एकेन्द्रिय के [illegible] नहीं है फिर भी उनके माया पायी जाती है, जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है; तथापि समझने-समझाने के लिए उनकी उपयोगिता है, क्योंकि इनके बिना हमारे पास मायाकषाय और आर्जवधर्म को समझने-समझाने के लिए कोई दूसरा साधन नहीं है। यही कारण है कि इन्हें मन-वचन-काय के माध्यम से समझा-[illegible] है।

ग्रासान है, उतना अप्रकट को नही । एकेन्द्रिय के मन और वचन का अभाव होने से उसके मायाकषाय अप्रकट रहती है, अतः उसमें माया-कषाय की उपस्थिति आगम से ही जानी जाती है, उसे युक्ति से सिद्ध करना सम्भव नही । इसीप्रकार सिद्धो मे आर्जवधर्म भी आगमसिद्ध ही है, युक्तियो से सिद्ध करना कठिन है । जो युक्तियाँ दी जावेंगी, अन्ततः वे सब आगमाश्रित ही होंगी ।

यद्यपि उक्त कारणों के कारण समझने-समझाने मे मन-वचन-काय के माध्यम का प्रयोग किया जाता है तथापि समझने-समझाने की इस पद्धति के कारण कोई यदि यही मान ले कि मायाकषाय एवं आर्जवधर्म के लिए मन-वचन-काय आवश्यक हैं, तो उसका मानना सही न होगा ।

यद्यपि मन-वचन-काय की विरूपता नियम से मायाचारी के ही होगी तथा जितने अंश मे आर्जवधर्म प्रकट होगा, उतने अंश मे तीनो की एकरूपता भी होगी ही, तथापि मायाकषाय और आर्जवधर्म इन तक ही सीमित नही, और भी है – यहाँ यही बताना है ।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मन-वचन-काय के माध्यम से आर्जवधर्म और मायाकषाय को समझने-समझाने का मूल कारण यह है कि मन-वचन-काय वालों की मायाकषाय और आर्जवधर्म प्रायः मन-वचन-काय के माध्यम से ही प्रकट होते हैं ।

यदि ऐसी बात है तो फिर तो यह बात ठीक ही है कि :–
'मन मे होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सो करिये ।'

हाँ ! हाँ !! ठीक है, पर जिनके लिये, इसका भी विचार किया या नहीं ? यह बात उनके लिये है, जिनका मन इतना पवित्र हो गया है कि जो बात उनके मन में आई है वह यदि वाणी मे भी आ जाय तो फूलों की वर्षा हो और उसे यदि कार्यान्वित कर दिया जाय तो जगत निहाल हो जावे; उनके लिए नहीं, जिनका मन पापो से भरा है; जिनके मन में निरन्तर खोटे भाव ही आया करते हैं; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का ही चिन्तन जिनके सदा चलता रहता है । यदि उन्होंने भी यही बात अपना ली तो मन के समान उनकी वाणी भी अपावन हो जावेगी तथा उनका जीवन घोर पापमय हो जावेगा ।

'मन में होय सो वचन उचरिये' का आशय मात्र यह है कि मन को इतना पवित्र बनाओ कि उसमें कोई खोटा भाव आवे ही नहीं ।

जिनके हृदय में निरन्तर अपवित्र भाव ही आया करते हैं, उनके लिए तो यही ठीक है कि :-

'मन में होय सो मन में रखिये, वचन होय तन सों न करिये ।'

क्यों ?

वे दिन-रात आत्मा का ही चिन्तन-मनन-अनुभवन करते रहते हैं, अतः उनकी वाणी में भी उसकी ही चर्चा निकलती है और चर्चा करते-करते वे आत्मानुभवन में समा जाते हैं। उनके मन में अशुभ भाव आते ही नहीं।

हमारी स्थिति उनसे भिन्न है। अतः हमें अपने स्तर पर विचार करना जरूरी है। मन में होने पर भी बहुत से पापों से जीवन में हम इसलिए बचे रहते हैं कि समाज उन कार्यों को बुरा मानता है सरकार उन कार्यों को करने से रोकती है। कभी-कभी हमारा विवेक भी उन कार्यों में हमे प्रवृत्त नहीं होने देता। वाणी को भी हम उक्त कारणों से काफी संयमित रखते हैं।

यही कारण है कि जगत के वाचिक जीवन में उतनी विकृति नहीं, जितनी की जन-जन के मनों में है। 'मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सौं करिये' का उपदेश मन की विकृतियों को बाहर लाने के लिए नहीं, वरन् उक्त समाधान कर मन को पावन बनाने के लिए है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि यदि यह बात है तो फिर आप यह क्यों कहते हैं कि – 'मन में होय सो मन में रखिये।' इसका भी कारण है और वह यह कि मन को इतना पवित्र बना लेना इतना आसान नहीं कि यहाँ हमने कहा और वहाँ आपने बना लिया। वह तो बनते-बनते ही बनेगा। अतः जब तक मन पूर्णतः पावन नहीं बन पाता, उसमें दुर्भाव उत्पन्न होते रहते हैं, तब तक हमारी उक्त सलाह पर चलना मात्र उपयुक्त ही नहीं वरन् आवश्यक भी है अन्यथा आपका जीवन स्वाभाविक भी न रह सकेगा।

यदि मन को पवित्र बनाये बिना ही आपने मन की बात वाणी में उगलना आरम्भ कर दिया तब उसे कार्यरूप में भी परिणत करने की कोशिश की तो हो सकता है कि लोग आपको मानसिक चिकित्सालय में प्रवेश दिलाने का प्रयत्न करने लगें।

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति मन में आये खोटे भावों को दबाने का प्रयत्न करता ही है। वह चाहता है कि वाणी में खोटा भाव प्रकट ही न हो। पर कभी-कभी जब मन भर जाता है, वह भाव मन में समाता नहीं, तो वाणी में फूट पड़ता है। एक बात यह भी है कि जब कोई भाव निरन्तर मन में बना रहता है तो फिर वह वाणी में

पड़ता ही है। मन सदा ही अपावन बना रहे तो आखिर हम उसे वाणी में आने से और जीवन में उतरने से कब तक रोकेंगे ? उसका पूरी तरह रोकना सम्भव भी तो नहीं है।

जो जहां से आते हैं, वहां की बातें उनके मन में छाई रहती हैं; अतः वे सहज ही वहां की चर्चा करते हैं। यदि कोई आदमी अभी-अभी अमेरिका से आया हो तो वह बात-बात में अमेरिका की चर्चा करेगा। भोजन करने बैठेगा तो बिना पूछे ही बतावेगा कि अमेरिका में इसतरह खाना खाते हैं, चलेगा तो कहेगा कि अमेरिका में इस प्रकार चलते हैं। कुछ बाजार से खरीदेगा तो कहेगा कि अमेरिका में तो यह चीज इस भाव मिलती है, आदि।

इसीप्रकार सदा आत्मा में विचरण करने वाले मुनिराज और ज्ञानीजन सदा आत्मा की ही बात करते हैं और विषय-कषाय में विचरण करने वाले मोहीजन विषय-कषाय की ही चर्चा करते हैं।

अतः 'मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये' का आशय जो मन में आवे उसी को बक देना और जो मुंह से निकल जाय वही कर डालना नहीं; वरन् यह है कि मनुष्य-जीवन में जो करने योग्य है हम उसी को वाणी में लावें और जो करने योग्य एवं कहने योग्य है, हमारे मन में बस वे ही विचार आवें, अन्य विचार नहीं।

ही अनंत कुटिलता है। रागादि आस्रवभाव दुःखरूप एवं दुःखों के कारण हैं, उन्हें सुखस्वरूप एवं सुख का कारण मानना, तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना; संसार में रंचमात्र भी सुख नहीं है, फिर भी उसमें सुख मानना एवं तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना ही वस्तुतः कुटिलता है, वक्रता है। इसीप्रकार वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा न मानकर, उसके विरुद्ध मानना एवं वैसा ही परिणमन करना चाहना विरूपता है।

यह सब आत्मा की वक्रता है, कुटिलता है एवं विरूपता है। यह वक्रता-कुटिलता-विरूपता तो वस्तु का सही स्वरूप समझने से ही जावेगी।

जैसा आत्मा का स्वभाव है, उसे वैसा ही जानना, वैसा ही मानना और उसी में तन्मय होकर परिणम जाना ही वीतरागी सरलता है; उत्तमआर्जव है। मुनिराजों के जो उत्तमआर्जवधर्म होता है, वह इसीप्रकार का होता है अर्थात् वे आत्मा को वर्णादि और रागादि से भिन्न जानकर उसमें ही समा जाते हैं, वीतरागतारूप परिणम जाते हैं, यही उनका उत्तमआर्जवधर्म है, बोलने और करने में आर्जवधर्म नहीं। आर्जवधर्म की जैसी उत्कृष्ट दशा उनके ध्यान-काल में होती है, वैसी उत्कृष्ट दशा बोलते समय या कार्य करते समय नहीं होती।

बोलते और अन्य कार्य करते समय भी जो आर्जवधर्म उनके विद्यमान है, वह बोलने-करने की क्रिया के कारण नहीं, उस समय आत्मा में विद्यमान सरलता के कारण है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का सम्यक् एवं एकरूप परिणमन ही आत्मा की एकरूपता है, यही वीतरागी सरलता है और यही वास्तविक उत्तमआर्जवधर्म है। लौकिक में छल-कपट के अभावरूप मन-वचन-काय की एक-रूपतारूप सरल परिणति को व्यवहार से आर्जवधर्म कहा जाता है।

अन्तर से बाहर की व्याप्ति होने से जिनके निश्चय उत्तम आर्जव प्रकट होता है, उनका व्यवहार भी नियम से सरल होता है अर्थात् उनके व्यवहार-आर्जव भी नियम से होता है। जिनके व्यवहार में भी भूमिकानुसार सरलता नहीं, उनके तो निश्चय आर्जव होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस लोभकषाय से पीड़ित हुआ व्यक्ति अपने मालिक, गुरु, बन्धु, वृद्ध, स्त्री, बालक; तथा क्षीण, दुर्बल, अनाथ, दीनादि को भी निःशंकता से मार कर धन को ग्रहण करता है।

नरक ले जाने वाले जो-जो दोष सिद्धान्तशास्त्रों में कहे गये हैं वे सब लोभ से प्रकट होते हैं।

पैसे का लोभी व्यक्ति सदा जोड़ने में ही लगा रहता है, भोगने का उसे समय ही नहीं मिलता। पशुओं का लोभ पेट भरने तक ही सीमित रहता है, पेट भर जाने पर वह कुछ समय को ही सही सन्तुष्ट हो जाता है; पर मानव की समस्या मात्र पेट भरने तक सीमित नहीं रही, वह पेटी भरने के चक्कर में सदा ही असन्तुष्ट बना रहता है।

दिन रात हाय पैसा! हाय पैसा!! उसे पैसे के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं देता। वह यह नहीं समझता कि अनेक प्रयत्न करने पर भी पुण्योदय के बिना धनादि अनुकूल संयोगों को प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि धनादि संयोगों की प्राप्ति पूर्वकृत पुण्य का फल है।

इसी बात की ओर ध्यान आकर्षित करने हेतु 'भगवती आराधना' में लिखा है :–

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स।
अकए वि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंतस्स ॥१४३६॥

लोभ करने पर भी पुण्यरहित मनुष्य को द्रव्य मिलता नहीं है और न करने पर भी पुण्यवान को धन की प्राप्ति होती है।

अतः धन की प्राप्ति में लोभ-आसक्ति कारण नहीं, परन्तु पुण्य ही कारण है। ऐसा विचार कर लोभ का त्याग करना चाहिए।

इसी प्रकार [illegible] धन के लोभ के त्याग की प्रेरणा देते

आज की दुनियाँ में रुपये-पैसे के लोभ को ही लोभ माना जाता है। कोई विषय-कषाय में ही क्यों न खर्चे, पर दिल खोलकर खर्च करने वालों को दरियादिल एवं कम खर्च करने वालों को लोभी कहा जाता है।

किसी ने आपको चाय-नाश्ता करा दिया, सिनेमा दिखा दिया तो वह आपकी दृष्टि में निर्लोभी हो गया और यदि उसके भी चाय-नाश्ते का बिल आपको चुकाना पड़ा या सिनेमा के टिकट आपको खरीदने पड़े तो आप कहने लगेंगे—हाय राम! बड़े लोभी से पाला पड़ा।

इसीप्रकार धर्मार्थ संस्था के लिए ही सही, आप चन्दा मांगने गये और किसी ने आपकी कल्पना से कम चन्दा दिया या न दिया तो लोभी; और यदि कल्पना से अधिक दे दिया तो निर्लोभी, चाहे उसने यश के लोभ में ही अधिक चन्दा क्यों न दिया हो। इसप्रकार यश के लोभियों को प्रायः निर्लोभी मान लिया जाता है।

ऊपर से उदार दिखने वाला अन्दर से बहुत बड़ा लोभी भी हो सकता है; इस बात की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता।

अरे भाई! पैसे का ही लोभ सब-कुछ नहीं है, लोभ तो कई प्रकार का होता है। यश का लोभ, रूप का लोभ, नाम का लोभ, काम का लोभ आदि।

वस्तुतः तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों की एवं मानादि कषायों की पूर्ति का लोभ ही लोभ है। पैसे का लोभ तो कृत्रिम लोभ है। यह तो मनुष्य भव की नयी कमाई है। लोभ तो चारों गतियों में होता है, किन्तु रुपये-पैसे का व्यवहार तो चारों गतियों में नहीं है। यदि रुपये-पैसे के लोभ को ही लोभ मानें तो अन्य गतियों में लोभ की सत्ता सम्भव न होगी, जबकि कषायों की बाहुल्यता का वर्णन करते हुए आचार्यों ने लोभ की अधिकता देवगति में बताई है।

नारकियों में क्रोध, मनुष्यों में मान, तिर्यंचों में माया और देवों में लोभ की प्रधानता होती है। देवगति में पैसे का व्यवहार नहीं है, अतः लोभ को पैसे की सीमा में कैसे बांधा जा सकता है?

पैसा तो विनिमय का एक कृत्रिम साधन है। रुपये-पैसे में ऐसा कुछ नहीं है कि जो जीव को लुभाए। लोग न उसके रूप पर लुभाते हैं, न रस पर।

जिन कागज के नोटों पर यह मानव मर मिटने को फिर रहा है, यदि वे नोट गाय के सामने रखो तो वह सूंघेगी भी नहीं; जबकि घास पर झपट पड़ेगी। गाय की दृष्टि में नोटों की कीमत घास के बराबर भी नहीं, पर यह अपने को सभ्य कहने वाला मानव उनके पीछे दिन-रात एक किए डालता है। ऐसा क्या जादू है उनमें ?

उनके माध्यम से पंचेन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति होती है, मानादि कषायों की पूर्ति होती है। यही कारण है कि मानव उनके प्रति लुभा जाता है। यदि उनके माध्यम से भोगों की प्राप्ति सम्भव न हो, यशादि की प्राप्ति सम्भव न हो, तो उनको कोई भटे के भी भाव न पूछे।

पैसे की प्रतिष्ठा आरोपित है, स्वयं की नहीं; अतः पैसों का लोभ भी आरोपित है।

रूप के लोभी, नाम के लोभी रुपये-पैसों को पानी की तरह बहाते कहीं भी देखे जा सकते हैं। कहीं कोई सुन्दर कन्या देखी और राजा साहब लुभा गये। फिर क्या ? कुछ भी हो, वह कन्या मिलनी ही चाहिए। ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल जायेंगे पुराणों में, इतिहास में। राजा श्रेणिक चेलना के, पवनञ्जय अंजना के रूप पर ही तो लुभाये थे।

नाम के लोभी मत करो [illegible]–भाई ! सबको एक दिन मरना ही है, कुछ करके जाओ तो नाम अमर रहेगा। आत्मा को [illegible] और नाम को अमर मानने वाले और कौन हैं ? नाम के [illegible] है। क्या रखा है नाम में ? एक नाम के [illegible] हैं, [illegible] यह किसका नाम था ?

आचार्य अमृतचंद्र ने भी 'तत्त्वार्थसार' में चार प्रकार के लोभ की चर्चा की है। वे उसमें लिखते हैं :—

परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदतः ।
चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते ॥१७॥

भोग, उपभोग, जीवन एवं इन्द्रियों के विषयों का – इसप्रकार लोभ चार प्रकार का होता है। इन चारों प्रकार के लोभ के त्याग का नाम शौचधर्म है।

उक्त दोनों प्रकारों में मात्र इतना ही अन्तर है कि अकलंकदेव ने उपभोग में भोग और उपभोग दोनों सम्मिलित कर लिये हैं तथा आरोग्य का लोभ अलग से भेद कर लिया है।

लोभ के उक्त प्रकारों में रुपये-पैसे का लोभ कहीं भी नहीं आता है।

लोभ के उक्त प्रकारों पर ध्यान दें तो पंचेन्द्रियों के विषयों के लोभ की ही प्रमुखता दिखाई देती है। भोग और उपभोग इन्द्रियों के विषय ही तो हैं। शारीरिक आरोग्य भी इन्द्रियों की विषय-ग्रहण शक्ति से ही सम्बन्धित है, क्योंकि पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त और शरीर क्या है? इन्द्रियों के समुदाय का नाम ही तो शरीर है। जीवन का लोभ भी शरीर के संयोग बने रहने की लालसा के अतिरिक्त क्या है? इसप्रकार हम देखते हैं कि पंचेन्द्रियों के विषयों में उक्त सभी प्रकार समा जाते हैं।

पंचेन्द्रियों के विषयों के लोभ में फँसे जीवों की दुर्दशा का चित्रण करते हुए तथा लोभ के त्याग की प्रेरणा देते हुए परमात्मप्रकाशकार इसप्रकार लिखते हैं :—

रूवि पयंगा सद्दि मय गय फासहि णासंति ।
अलिउल गंधइँ मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ॥२॥११२॥
जोइय लोहु परिच्चयहि लोहु ण भल्लउ होइ ।
लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहन्तउ जोइ ॥२॥११३॥

रूप के लोभी पतंगे दीपक पर पड़कर, कर्णेन्द्रिय शब्द के लोभी हिरण शिकारी के बाण से बिंधकर, स्पर्श (काम) के लोभी हाथी हथिनी के लोभ में गड्ढे में पड़कर, गंध के लोभी भौंरे कमल में बंधकर, और रस के लोभी मच्छ धीवर के कांटे में बिंधकर या जाल में फँसकर दुःख उठाते हैं, नाश को प्राप्त होते हैं। हे जीव! ऐसे विषयों का क्यों लोभ करते हो, उनसे अनुराग क्यों करते हो?

हे योगी ! तू लोभ को छोड़। यह लोभ किसी प्रकार अच्छा नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण जगत इसमें फंसा हुआ दुःख उठा रहा है।

आत्मस्वभाव को आच्छन्न करने वाली शौचधर्म की विरोधी लोभकषाय जब अपनी तीव्रता में होती है तो अन्य कषायों को भी दबा देती है। लोभी व्यक्ति मानापमान का विचार नहीं करता। वह क्रोध को भी पी जाता है।

लोभ दूसरी कषायों को तो काटता ही है, स्वयं को भी काटता है। राज का लोभी धन का लोभ छोड़ देता है।

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लोभियों की वृत्ति पर व्यंग करते हुए लिखते हैं :-

वही लोभ किसी व्यक्ति के प्रति होता है तो उसे प्रीति या प्रेम नाम दिया जाता है।

पंचेन्द्रियों के विषयों के प्रति प्रेम लोभ ही तो है। पंचेन्द्रियों के विषय चेतन भी हो सकते हैं और अचेतन भी। चेतन विषयों के प्रति हुए रागात्मक भाव को प्रेम एवं अचेतन पदार्थों के प्रति हुए रागात्मक भाव को प्रायः लोभ कह दिया जाता है। पुरुष के स्त्री के प्रति आकर्षण को प्रेम की संज्ञा ही दी जाती है।

इस सम्बन्ध में शुक्लजी के विचार और द्रष्टव्य हैं :-

"पर साधारण बोल-चाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी भी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं। वस्तु और व्यक्ति के विषय-भेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति में बहुत भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ को अलग नाम दिया गया है। पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं।"[1]

परिष्कृत लोभ को उदात्त प्रेम, वात्सल्य आदि अनेक सुन्दर-सुन्दर नाम दिये जाते हैं, पर वे सब आखिर हैं तो लोभ के रूपान्तर ही। माता-पिता, पुत्र-पुत्री आदि के प्रति होने वाले राग को पवित्र ही माना जाता है।

कुछ लोभ तो इतना परिष्कृत होता है कि वह लोभ-सा ही नहीं दिखता। उसमें लोगों को धर्म का भ्रम हो जाता है। स्वर्गादि का लोभ इसीप्रकार का होता है।

बात बुन्देलखण्ड की है, बहुत पुरानी। एक सेठ साहब थे उनके स्नेही पंडितजी लोभी कहा करते थे। एक बार सेठ साहब ने पंडितजी से पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करवाने एवं गजरथ चलवाने का विचार व्यक्त किया तो पंडितजी तपाक से बोले – तुम जैसे लोभी क्या गजरथ चलायेंगे, क्या पंचकल्याणक करायेंगे ?

सेठ साहब के बहुत आग्रह करने पर उन्होंने कहा – अच्छा, आप कल्याणक ही कराना चाहते हैं तो पाँच हजार रुपया मंगाइये। पंडितजी का कहना था कि सेठ साहब ने तत्काल हजार-हजार रुपयों की पाँच थैलियाँ लाकर पंडितजी के सामने रख दीं। उस समय नोटों का प्रचलन बहुत कम था। एक-एक थैली का वजन १०-१० किलो से भी अधिक था।

---

[1] चिन्तामणि, भाग १, पृष्ठ ६६

पंडितजी के कहने पर पाँच मजदूर बुलवाये गये तथा उनको थैलियाँ देकर बेतवा नदी के किनारे चलने को कहा। साथ में सेठजी और पंडितजी भी थे।

गहरी धार के किनारे पहुँचकर पंडितजी ने सेठजी से कहा कि इन रुपयों को नदी की गहरी धार में फेंक दो और घर चलकर गजरथ की तैयारी करो। जब सेठजी बिना मीन-मेख किये फेंकने को तैयार हो गये तो पंडितजी ने रोक दिया और कहा अब तुम पंचकल्याणक करा सकते हो। तात्पर्य यह कि यह समझो कि पाँच हजार तो पानी में गये, अब और हिम्मत हो तो आगे बात करो।

उस समय के पाँच हजार आज के पाँच लाख के बराबर थे। पंडितजी सेठजी का हृदय देखना चाहते थे। बाद में बहुत जोरदार पंचकल्याणक हुआ। सेठजी ने दिल खोलकर खर्च किया।

[illegible] में 'अब आप मुझे एक बार और लोभी कहिये' – कहकर सेठ साहब पंडितजी की ओर देखकर मुस्कुराने लगे।

तब पंडितजी ने कहा – 'लोभी, लोभी और महालोभी।'

क्यों और कैसे ? ऐसा पूछने पर वे कहने लगे – इसलिए कि जब [illegible] यहाँ न भोगा जा सका तो अगले भव में ले जाने के [illegible] कर जाना। अगले भव तक के लिए भोगों का इन्तजाम करने वाले महालोभी नहीं तो क्या निर्लोभी होंगे ?

[illegible] लोभ में धर्म के नाम पर सब-कुछ करना यद्यपि [illegible] लोभी [illegible] में छिपाते हैं।

[illegible] लोभियों में ही [illegible] लोभ ही [illegible] किसी की भी

धर्म और धर्मात्माओं के प्रति उत्पन्न हुए राग को तो धर्म तक कह दिया जाता है, वह भी जिनवाणी में भी, पर वह सब व्यवहार का कथन होता है। उसमें ध्यान रखने की बात यह है कि राग लोभादि-कषायों का ही भेद है, वह अकषायरूप नहीं हो सकता। जब अकषायभाव – वीतरागभाव का नाम धर्म है, तो रागभाव – कषाय-भाव धर्म कैसे हो सकता है? अतः यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि लोभादिकषायरूपात्मक है स्वरूप जिसका, ऐसा राग चाहे वह मन्द हो चाहे तीव्र, चाहे शुभ हो चाहे अशुभ, चाहे अशुभ के प्रति हो चाहे शुभ के प्रति, वह धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि है तो आखिर वह राग (लोभ) रूप ही।

यह बात सुनकर चौंकिये नहीं, जरा गम्भीरता से विचार कीजिए। शास्त्रों में लोभ की सत्ता दशवें गुणस्थान तक कही है। तो क्या छठवें गुणस्थान से लेकर दशवें गुणस्थान तक विचरण करने वाले परमपूज्य भावलिंगी मुनिराजों को विषयों के प्रति लोभ होता होगा? नहीं, कदापि नहीं। उनके लोभ का आलम्बन धर्म और धर्मात्मा ही हो सकते हैं।

आप कह सकते हैं कि जिनके तन पर धागा भी नहीं, जो सर्वपरिग्रह के त्यागी हैं – ऐसे कुन्दकुन्द आदि मुनिराजों के भी लोभ? कैसी बातें करते हो? पर भाई! ये बातें मैं नहीं कर रहा, शास्त्रों में हैं, और सभी शास्त्राभ्यासी इन बातों को अच्छी तरह जानते हैं।

अतः जब लोभ का वास्तविक अर्थ समझना है तो उसे व्यापक अर्थ में ही समझना होगा। उसे मात्र रुपये-पैसे तक सीमित करने से काम नहीं चलेगा।

आप यह भी कह सकते हैं कि अपनी बात तो करते नहीं, मुनिराजों की बात करने लगे। पर भाई! यह क्यों भूल जाते हो कि यह शौचधर्म के प्रसंग में बात चल रही है और शौचधर्म का वर्णन शास्त्रों में मुनियों की अपेक्षा ही आया है। उत्तमक्षमादि दशधर्म तत्त्वार्थसूत्र में गुप्ति-समितिरूप मुनिधर्म के साथ ही वर्णित हैं।

*बहुत-सा लोभ जिसे आचार्यों ने पाप का बाप कहा है* आज धर्म बन के बैठा है। धर्म के ठेकेदार उसे धर्म सिद्ध करने पर उतारू हैं। उसे मोक्ष तक का कारण मान रहे हैं और नहीं मानने वालों को कोस रहे हैं।

पच्चीस कषाएँ राग-द्वेष में गर्भित हैं। उनमें चार प्रकार का क्रोध, चार प्रकार का मान, अरति, शोक, भय एवं जुगुप्सा ये बारह कषाएँ – द्वेष हैं; और चार प्रकार की माया, चार प्रकार का लोभ, तीन प्रकार के वेद, रति एवं हास्य ये तेरह कषाएँ – राग हैं।

इसप्रकार जब चारों प्रकार का लोभ राग में गर्भित है, तब राग को धर्म मानने वालों को सोचना चाहिए कि वे लोभ को धर्म मान रहे हैं; पर लोभ तो पाप ही नहीं, पाप का बाप है।

राग चाहे मन्द हो, चाहे तीव्र; चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ; वह होगा तो राग ही। और जब वह राग है तो वह या तो माया होगा या लोभ या वेद या रति या हास्य। इनके अतिरिक्त तो राग का और कोई प्रकार है ही नहीं शास्त्रों में – हो तो बतायें? ये तेरह कषायें ही राग हैं? अतः राग को धर्म मानने का अर्थ है कषाय को धर्म मानना, जबकि धर्म तो अकषायभाव का नाम है।

चारित्र ही साक्षात् धर्म है। और वह मोह तथा क्षोभ (राग-

यदि आप कहें कि क्रोध का अभाव तो क्षमा है, मान का अभाव मार्दव है, और माया का अभाव आर्जव है, अब लोभ ही बचा, अतः उसका अभाव शौच हो गया। तब मैं कहूँगा कि क्या क्रोध, मान, माया और लोभ ही कषाएँ हैं, हास्य, रति, अरति कषाएँ नहीं; भय, जुगुप्सा और शोक कषाएँ नहीं, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कषाएँ नहीं ? – ये भी तो कषाएँ हैं। क्या ये आत्मा को अपवित्र नहीं करतीं ?

यदि करती हैं तो फिर पच्चीसों कषायों के अभाव को शौचधर्म कहा जाना चाहिए, न कि मात्र लोभ के अभाव को।

अब आप कहते हैं कि भाई हमने थोड़े ही कहा है – शास्त्रों में लिखा है, आचार्यों ने कहा है।

पर भाई साहब ! यही तो मैं कहता हूँ कि शास्त्रों में लोभ के अभाव को शौच कहा है और लोभ के पूर्णतः अभाव होने के पहिले सभी कषायों का अभाव हो जाता है, अतः स्वतः ही सिद्ध हो गया कि सभी प्रकार के कषायभावों से आत्मा अपवित्र होता है और सभी कषायों के अभाव होने पर शौचधर्म प्रकट होता है।

लोभान्त माने लोभ है अन्त में जिनके – ऐसी सभी कषाएँ। चूंकि लोभ पच्चीसों कषायों के अन्त में समाप्त होता है, अतः लोभान्त में पच्चीसों कषाएँ आ जाती हैं।

यह पूर्ण शौचधर्म की बात है। अंशरूप में जितना-जितना लोभान्त-कषायों का अभाव होगा, उतना-उतना शौचधर्म प्रकट होता जावेगा।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब क्रोधादि सभी कषाएँ आत्मा को अपवित्र करती हैं तो क्रोध के जाने पर भी आत्मा में कुछ न कुछ पवित्रता प्रकट होती ही, अतः क्रोध के अभाव को या मान के अभाव को शौचधर्म क्यों नहीं कहा; लोभ के अभाव को ही क्यों कहा ?

इसका भी कारण है और वह यह कि क्रोध के पूर्णतः चले जाने पर भी आत्मा में पूर्ण पवित्रता प्रकट नहीं होती, क्योंकि लोभ तब भी रह सकता है। पर लोभ के पूर्णतः चले जाने पर कोई भी कषाय नहीं रहती है। अतः पूर्ण पवित्रता को लक्ष्य में रखकर ही लोभ के अभाव को शौचधर्म कहा है। अंशरूप से जितना कषायभाव कम होता है, उतनी शुचिता आत्मा में प्रकट होती ही है।

[illegible] सुन्दर-सी होने पर भी अव्रती-मिथ्यादृष्टि अपवित्र हैं और सम्यग्दृष्टि व्रती-महाव्रती पवित्र हैं।

इससे यह सहज सिद्ध है कि आत्मा की पवित्रता वीतरागता में है और अपवित्रता मोह-राग-द्वेष में; खून-मांस-हड्डी का उससे कोई सम्बन्ध नहीं।

वादिराज मुनिराज के शरीर में कोढ़ हो गया था, फिर भी वे परम पवित्र थे, शौचधर्म के धनी थे। गृहस्थावस्था में सनतकुमार चक्रवर्ती की जब कंचन जैसी काया थी, जिनके सौन्दर्य की चर्चा इन्द्रसभा में भी चलती थी, जिसे सुनकर देवगण उनके दर्शनार्थ आते थे; तब तो उनके उस स्तर का शौचधर्म नहीं था, जिस स्तर का मुनि अवस्था में था। जबकि मुनि अवस्था में उनके शरीर में कोढ़ हो गया था, जो सातसौ वर्ष तक रहा। उस कोढ़ी दशा में भी उनके मुनि स्तर के अनुरूप शौचधर्म मौजूद था।

अब विचार तो करो कि शौचधर्म क्या है? इसे शरीर की शुद्धि तक सीमित करना तत्सम्बन्धी अज्ञान ही है।

कैसी विचित्र बात है कि इस हड्डियों के शरीर को हड्डी छू जाने से नहाना पड़ता है। हम सब मुंह से रोटी खाते हैं, दांतों से उसे चबाते हैं। दांत क्या हैं ? हड्डियाँ ही तो हैं। जब तक दांत मुंह में हैं–छूत हैं; अपने स्थान से हटते ही अछूत हो जाते हैं। इस पर लोग कहते हैं–यह जीवित हड्डी और वह मरी हड्डी। उनकी दृष्टि में हड्डियाँ भी जीवित और मरी–दो प्रकार की होती हैं।

जो कुछ भी हो, ये सब बातें व्यवहार की हैं। संसार में व्यवहार चलता ही है। और जब तक हम संसार में हैं तब तक हम सब व्यवहार निभाते ही हैं, निभाना भी चाहिये। पर मुक्तिमार्ग में उसका कोई स्थान नहीं है।

यही कारण है कि मुक्ति के पथिक मुनिराज इन व्यवहारों से अतीत होते हैं, वे व्यवहारातीत होते हैं।

अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान–इन तीन कषायों के अभावरूप वास्तविक शौचधर्म–निश्चयारूढ़-व्यवहारातीत मुनिराजों के ही होता है, क्योंकि उन्होंने परमपवित्र ज्ञानानंदस्वभावी निजात्मा का अतिउग्र आश्रय लिया है। वे आत्मा में ही जम गये हैं, उसी में रम गये हैं।

अनन्तानुबंधी व अप्रत्याख्यान इन दो कषायों के अभाव में एवं मात्र अनन्तानुबंधी के अभाव में होने वाला शौचधर्म क्रमशः देशव्रती व अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावकों के होता है। सम्यग्दृष्टि और देशव्रती श्रावकों के होने वाला शौचधर्म यद्यपि वास्तविक ही है; तथापि उसमें वैसी निर्मलता नहीं हो पाती जैसी मुनिदशा में होती है। पूर्णतः शौचधर्म तो वीतरागी सर्वज्ञों के ही होता है।

स्वभाव से तो सभी आत्माएँ परमपवित्र ही हैं, विकृति मात्र पर्याय में है। पर जब पर्याय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेती है, तो वह भी पवित्र हो जाती है। पर्याय के पवित्र होने का एकमात्र उपाय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेना है। 'पर' के आश्रय से पर्याय में अपवित्रता और 'स्व' के आश्रय से पवित्रता प्रकट होती है।

समयसार गाथा ७२ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र आत्मा को अत्यन्त पवित्र एवं मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावों को अपवित्र बताते हैं। उन्होंने आस्रवतत्त्व को अशुचि लिखा है, जीवतत्त्व और अजीव

ऐसा महत्त्वपूर्ण अव्यक्त सत्य अपेक्षित होता है जो उपास्य हो, आश्रय के योग्य हो। दार्शनिकों और आध्यात्मिकों का उपास्य, आश्रयदाता सत्य मात्रवचनरूप नहीं हो सकता। जिसके आश्रय से धर्म प्रकट हो, जो अनन्त सुख-शान्ति का आश्रय बन सके; ऐसा सत्य कोई महान चेतनतत्त्व ही हो सकता है, उसे वाग्विलास तक सीमित नहीं किया जा सकता। उसे वचनों तक सीमित करना स्वयं ही सबसे बड़ा असत्य है।

आचार्यों ने वाणी की सत्यता और वाणी के संयम पर भी विचार किया है, पर उसे सत्यधर्म से अलग ही रखा है। वाणी की सत्यता और वाणी के संयम को जीवन में उतारने के लिए उन्होंने उसे चार स्थानों पर बांधा है – (१) सत्याणुव्रत, (२) सत्यमहाव्रत, (३) भाषासमिति और (४) वचनगुप्ति।

मुख्यरूप से स्थूल झूठ नहीं बोलना सत्याणुव्रत है। सूक्ष्म भी झूठ नहीं बोलना, सदा सत्य ही बोलना सत्यमहाव्रत है। सत्य भी कठोर, अप्रिय, असीमित न बोलकर; हित-मित एवं प्रियवचन बोलना भाषासमिति है; और बोलना ही नहीं, वचनगुप्ति है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनागम में वचन को सत्य एवं मर्यादित रखने के लिए उसे चार स्थानों पर प्रतिबंधित किया है। कहने का आशय यह है कि यदि बिना बोले चल जावे तो बोलो ही मत, यदि बोलो तो हित-मित-प्रिय वचन बोलो और वह भी पूर्णतः सत्य, और सूक्ष्म असत्य से न बच सको तो स्थूल असत्य तो कभी न बोलो।

[illegible] (पॉजिटिव) और नास्ति (निगेटिव) [illegible] सत्याणुव्रत, सत्यमहाव्रत और भाषा- [illegible] (पॉजिटिव) [illegible] (निगेटिव) [illegible]

उसका मिलना सम्भव है, पर जिसकी खोज ही खो गई हो वह कैसे मिले ? जब तक सत्य को समझते नहीं, खोज चालू रहती है। किन्तु जब किसी गलत चीज को सत्य मान लिया जाता है तो उसकी खोज भी बन्द कर दी जाती है। जब खोज ही बन्द कर दी जावे तो फिर मिलने का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

हत्यारे की खोज तभी तक होती है जब तक कि हत्या के अपराध में किसी को पकड़ा नहीं जाता। जिसने हत्या नहीं की हो, यदि उसे हत्या के अपराध में पकड़ लिया जाय, सजा दे दी जाय, तो असली हत्यारा कभी नहीं पकड़ा जायगा। क्योंकि अब तो फाइल ही बन्द हो गई, अब तो जगत की दृष्टि में हत्यारा मिल ही गया, उसे सजा भी मिल गई। अब खोज का क्या काम ? जब खोज बन्द हो गई तो असली हत्यारे का मिलना भी असम्भव है।

इसीप्रकार जब सत्यवचन को सत्यधर्म मान लिया गया तो फिर असली सत्यधर्म की खोज का प्रश्न ही कहाँ रहा ? सत्यवचन को सत्यधर्म मान लेने से सबसे बड़ी हानि यह हुई कि सत्यधर्म की खोज खो गई।

सत्यधर्म क्या है ? यह नहीं जानने वाले जिज्ञासु कभी न कभी सत्यधर्म को पा लेंगे, क्योंकि उनकी खोज चालू है; पर सत्यवचन को ही सत्यधर्म मानकर बैठ जाने वालों को सत्य पाना सम्भव नहीं।

अणुव्रत गृहस्थों के होते हैं, मुनियों के नहीं। महाव्रत मुनियों के होते हैं, गृहस्थों के नहीं। इसीप्रकार भाषासमिति और वचनगुप्ति मुनियों के होती है, गृहस्थों के नहीं। अणुव्रत, महाव्रत, गुप्ति और समिति गृहस्थों और मुनियों के होते हैं; सिद्धों के नहीं, अविरत सम्यग्दृष्टियों के भी नहीं। जबकि उत्तमक्षमादि दशधर्म अपनी-अपनी भूमिकानुसार अविरत सम्यग्दृष्टियों से लेकर सिद्धों तक पाये जाते हैं।

वाणी पुद्गल की पर्याय है और सत्य है आत्मा का धर्म। आत्मा का धर्म आत्मा में रहता है, शरीर और वाणी में नहीं। जो आत्मा के धर्म हैं, उनका सम्पूर्ण-पनों के धनी सिद्धों में होना अनिवार्य है। उत्तमक्षमादि दशधर्म जिनमें सत्यधर्म भी शामिल है, सिद्धों में विद्यमान है; पर उनमें सत्यवचन नहीं है। अतः सिद्ध होता है कि *निश्चय से सत्यवचन सत्यधर्म नहीं है।*

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि क्या अणुव्रत, महाव्रत धर्म नहीं ? क्या समिति, गुप्ति भी धर्म नहीं ?

अणुव्रत और महाव्रतों को आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में आस्रवाधिकार में लिया है। यद्यपि उन्हें कहीं-कहीं उपचार से धर्म कहा है, पर जो आस्रव हों, बंध के कारण हों; उन्हें निश्चय से धर्म संज्ञा कैसे दी जाती है ?

गुप्ति, समिति भी उत्तमसत्यधर्म नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जिस उत्तमसत्यधर्म की चर्चा यहाँ चल रही है; गुप्ति, समिति वह धर्म नहीं है।

सीधी-सी बात यह है कि जिस सत्यधर्म की चर्चा यहाँ चल रही है, वह न सत्य बोलने में है, न हित-मित-प्रिय बोलने में; यह बोलने के निषेधरूप मौन में भी नहीं। क्योंकि ये सब वाणी के धर्म हैं और विवक्षित सत्यधर्म आत्मा का धर्म है।

जो वास्तविक धर्म हैं, वे पूर्णतः प्रकट हो जाने के बाद समाप्त नहीं होते। उत्तमक्षमादिधर्म सिद्धावस्था में भी रहते हैं, पर अणुव्रत-महाव्रत एक अवस्थाविशेष में ही रहते हैं। वे उस अवस्था के धर्म हो सकते हैं, आत्मा के नहीं। गृहस्थ अणुव्रत ग्रहण करता है, किन्तु जब वही गृहस्थ मुनिधर्म अंगीकार करता है तो महाव्रत ग्रहण करता है, अणुव्रत छूट जाते हैं। जो छूट जावे वह धर्म कैसा ?

अणुव्रत, महाव्रत, गुप्ति, समिति—ये सब पड़ाव हैं, गन्तव्य नहीं, प्राप्तव्य नहीं, अन्तिम लक्ष्य नहीं, अन्तिम लक्ष्य सिद्ध अवस्था है। उसमें भी रहने वाले उत्तमक्षमादिधर्म जीव के वास्तविक धर्म हैं।

अब हमें उस सत्यधर्म को समझना है जो एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक चतुर्गति के सभी मिथ्यादृष्टि जीवों में नहीं पाया जाता एवम् सम्यग्दृष्टि से लेकर सिद्धों तक सभी सम्यग्दृष्टि जीवों में अपनी-अपनी भूमिकानुसार पाया जाता है।

द्रव्य का लक्षण सत् है। आत्मा भी एक द्रव्य है, अतः यह सत्स्वभावी है। सत्स्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो शान्ति-स्वरूप वीतराग परिणति उत्पन्न होती है, उसे निश्चय से सत्यधर्म कहते हैं। सत्य के साथ लगा 'उत्तम' शब्द मिथ्यात्व के अभाव और सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। मिथ्यात्व के अभाव बिना तो सत्यधर्म की प्राप्ति ही सम्भव नहीं है।

जब तक यह आत्मा वस्तु का—विशेषकर आत्मवस्तु का, सत्य स्वरूप नहीं समझेगा, तब तक सत्यधर्म की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है। जिसकी उत्पत्ति ही न हुई हो उसकी वृद्धि और सम्वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मवस्तु की सच्ची समझ आत्मानुभव के बिना सम्भव नहीं है। मिथ्यात्व के अभाव और सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयोजनभूत अनात्म वस्तुओं का तो मात्र सत्यज्ञान ही अपेक्षित है, किन्तु आत्मवस्तु के ज्ञान के साथ-साथ अनुभूति भी आवश्यक है। अनुभूति के बिना सम्यक् आत्मज्ञान सम्भव नहीं है।

उत्तमसत्य अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित वीतराग-भाव। सत्य बोलना तो निश्चय से सत्यधर्म है ही नहीं, पर मात्र सत्य जानना, मात्र मानना भी वास्तविक सत्यधर्म नहीं है; क्योंकि मात्र जानना और मानना क्रमशः ज्ञान और श्रद्धा गुण की पर्यायें हैं; जबकि सत्यधर्म चारित्र गुण की पर्याय है, चारित्र की दशा है। उत्तमक्षमादि दशधर्म चारित्ररूप हैं—यह बात दशधर्मों की सामान्य चर्चा में इसके पहले स्पष्ट की जा चुकी है।

अतः सत्यवाणी की बात तो दूर, मात्र सच्ची श्रद्धा और सच्ची समझ भी सत्यधर्म नहीं, किन्तु सच्ची श्रद्धा और सच्ची समझपूर्वक उत्पन्न हुई वीतराग परिणति ही निश्चय से उत्तमसत्यधर्म है।

यह तेरी दृष्टि की खराबी है, वस्तुस्वरूप की नहीं। सत्य कहते ही उसे हैं जिसकी लोक में सत्ता हो।

जरा विचार करें कि सत्य क्या है और असत्य क्या है?

'यह घट है'– इसमें तीन प्रकार की सत्ता है। 'घट' नामक पदार्थ की सत्ता है। 'घट' को जानने वाले ज्ञान की सत्ता है और 'घट' शब्द की भी सत्ता है। इसीप्रकार 'घट' नामक पदार्थ, उसको जानने वाले ज्ञान एवं 'घट' शब्द की भी सत्ता जगत में है। जिनकी सत्ता है वे *सभी सत्य हैं। इन तीनों का सुमेल हो तो ज्ञान भी सत्य,* वाणी भी सत्य, और वस्तु तो सत्य है ही। किन्तु जब वस्तु, ज्ञान और वाणी का सुमेल न हो – मुँह से बोले तो 'पट' और इशारा करे 'घट' की ओर – तो वाणी असत्य हो जायेगी। इसीप्रकार सामने तो हो 'घट' और हम उसे जानें 'पट' – तो ज्ञान असत्य (मिथ्या) हो जाएगा; वस्तु तो असत्य होने से रही। वह तो कभी असत्य हो ही नहीं सकती। वह तो सदा ही स्व-रूप से है, और पर-रूप से नहीं है।

अतः सिद्ध हुआ कि असत्य वस्तु में नहीं; उसे जानने वाले ज्ञान में, मानने वाली श्रद्धा में, या कहने वाली वाणी में होता है। अतः मैं तो कहता हूँ कि अज्ञानियों के ज्ञान, श्रद्धान और वाणी के अतिरिक्त लोक में असत्य की सत्ता ही नहीं है; सर्वत्र सत्य का ही साम्राज्य है।

वस्तुतः जगत पीला नहीं है, किन्तु हमें पीलिया हो गया है; अतः जगत पीला दिखाई देता है। इसीप्रकार जगत में तो असत्य की सत्ता ही नहीं है; पर असत्य हमारी दृष्टि में ऐसा समा गया है कि वह जगत में दिखाई देता है।

सुधार भी जगत का नहीं; अपनी दृष्टि का, अपने ज्ञान का करना है। सत्य का उत्पादन नहीं करना है, सत्य तो है ही; जो जैसा है वही सत्य है। उसे सही जानना है, मानना है। सही जानना-मानना ही सत्य प्राप्त करना है। और आत्म-सत्य को प्राप्त कर राग-द्वेष का अभाव कर वीतरागतारूप परिणति होना सत्यधर्म है।

यदि मैं घट को घट कहूँ तो सत्य है, किन्तु घट को पट कहूँ तो झूठ है। मेरे कहने से घट, पट तो हो नहीं जाएगा; वह तो घट ही रहेगा। वस्तु में झूठ ने कहाँ प्रवेश किया? झूठ का प्रवेश तो वाणी में हुआ। इसीप्रकार यदि घट को पट जाने तो ज्ञान झूठा हुआ, वस्तु तो नहीं। मैंने घट को घट जाना, माना या कहा – इसमें घट

संयम दो प्रकार का होता है :–
(१) प्राणीसंयम और (२) इन्द्रियसंयम ।

छहकाय के जीवों के घात एवं घात के भावों के त्याग को प्राणीसंयम और पंचेन्द्रियों तथा मन के विषयों के त्याग को इन्द्रिय-संयम कहते हैं ।

षट्काय के जीवों की रक्षारूप अहिंसा एवं पंचेन्द्रियों के विषयों के त्यागरूप व्रतों की बात जब भी चलती है – हमारा ध्यान परजीवों के द्रव्यप्राणरूप घात एवं बाह्य भोगप्रवृत्ति के त्याग की ओर ही जाता है; अभिप्राय में जो वासना बनी रहती है, उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता ।

इस संदर्भ में महापंडित टोडरमलजी लिखते हैं :–

"बाह्य त्रस-स्थावर की हिंसा तथा इन्द्रिय-मन के विषयों में प्रवृत्ति उसको अविरति जानता है; हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है और विषयसेवन में अभिलाषा मूल है उसका अवलोकन नहीं करता। तथा बाह्य क्रोधादि करना उसको कषाय जानता है, अभिप्राय में राग-द्वेष बस रहे हैं उनको नहीं पहिचानता ।"[1]

यदि बाह्य हिंसा का त्याग एवं इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति नहीं होने का ही नाम संयम है, तो फिर देवगति में भी संयम होना चाहिए; क्योंकि सोलह स्वर्गों के ऊपर तो उक्त बातों की प्रवृत्ति संयमी पुरुषों से भी कम पाई जाती है ।

सर्वार्थसिद्धि के सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्रों के पंचेन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति बहुत कम या न के बराबर-सी पाई जाती है । स्पर्शनेन्द्रिय के विषय सेवन (मैथुन) की प्रवृत्ति तो दूर, तेतीस सागर तक उनके मन में विषय सेवन का विकल्प भी नहीं उठता ।

सर्वमान्य जैनाचार्य उमास्वामी ने स्पष्ट लिखा है :–

'परेऽप्रवीचाराः'[2]

*सोलह स्वर्गों के ऊपर प्रवीचार का भाव भी नहीं होता ।*

रसना इन्द्रिय के विषय में भी उन्हें तेतीस हजार वर्ष तक कुछ भी खाने-पीने का भाव नहीं आता । तेतीस हजार वर्ष के बाद भी

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२७
[2] तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ४, सूत्र ९

इस प्रकार के जीवों की रक्षा में उनका ध्यान परजीवों की रक्षा की ओर ही जाता है। 'मैं स्वयं भी एक जीव हूँ' इसका उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। परजीवों की रक्षा का भाव करके सब जीवों ने पुण्यबंध तो अनेक बार किया; किन्तु परलक्ष्य से निरन्तर अपने शुद्धोपयोग-रूप भावप्राणों का जो घात हो रहा है, उसकी ओर इनका ध्यान ही नहीं जाता। मिथ्यात्व और कषायभावों से यह जीव निरन्तर आत्मघात कर रहा है। इस महाहिंसा की इसे खबर ही नहीं है।

है –

आप यह भी कह सकते हैं – इन्द्रियाँ तो हमारे आनन्द और ज्ञान में सहायक हैं। वे तो हमें पंचेन्द्रियों के भोगों के आनन्द लेने में सहायता करती हैं, पदार्थों को जानने में भी सहायता करती हैं। सहायकों को शत्रु क्यों कहते हो ? सहायक तो मित्र होते हैं, शत्रु नहीं।

पर आप यह क्यों भूल जाते है कि ज्ञान और आनन्द तो आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव में पर की अपेक्षा नहीं होती। अतीन्द्रिय-आनन्द और अतीन्द्रियज्ञान को किसी 'पर' की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि इन्द्रियसुख और इन्द्रियज्ञान में इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं, तथापि इन्द्रियसुख सुख है ही नहीं। वह सुखाभास है, सुख-सा प्रतीत होता है; पर वस्तुतः सुख नहीं, दुःख ही है, पापबंध का कारण होने से आगामी दुःख का भी कारण है। इसीप्रकार इन्द्रियाँ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द की ग्राहक होने से मात्र जड़ को जानने में ही निमित्त हैं, आत्मा को जानने में वे साक्षात् निमित्त भी नहीं हैं।

विषयों में उलझाने में निमित्त होने से इन्द्रियाँ संयम में बाधक ही हैं, साधक नहीं।

पंचेन्द्रियों के जीतने के प्रसंग में भी सामान्यजनों का ध्यान इन्द्रियों के भोगपक्ष की ओर ही जाता है, ज्ञानपक्ष की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। इन्द्रियसुख को त्यागने की बात तो सभी करते हैं, पर इन्द्रियज्ञान भी हेय है, आत्महित के लिए अर्थात् अतीन्द्रियसुख और अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति के लिए इन्द्रियज्ञान की भी उपेक्षा आवश्यक है – इसे बहुत कम लोग जानते हैं।

जब इन्द्रियसुख भोगते-भोगते अतीन्द्रियसुख प्राप्त नहीं किया जा सकता तब इन्द्रियज्ञान के माध्यम से अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी ? आत्मा के अनुभव के लिए जिसप्रकार इन्द्रियसुख त्याज्य है; उसीप्रकार अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति के लिए इन्द्रियज्ञान से भी विराम लेना होगा।

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं :–

> अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
> णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

जिसप्रकार ज्ञान मूर्त-अमूर्त और इन्द्रिय-अतीन्द्रिय होता है; उसीप्रकार सुख भी मूर्त-अमूर्त और इन्द्रिय-अतीन्द्रिय होता है। इनमें

इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख हेय हैं और अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख उपादेय हैं।

प्रवचनसार की ही पचपनवीं गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :-

'अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति ।'

अब, इन्द्रियसुख का साधनभूत इन्द्रियज्ञान हेय है – इसप्रकार उसकी निन्दा करते हैं।

जाने की तैयारी है। सोचते है कि जितने दिन हैं, खा लें; फिर न मालूम मिलेगा या नहीं।

जो भी हो, पर ऐसे लोग पेट भरने के नाम पर पंचेन्द्रियों के विषयों को ही भोगने में लगे रहते हैं।

मैं पूछता हूँ प्यासे को मात्र पानी की जरूरत है या ठंडे-मीठे-रंगीन पानी की। पेट को तो पानी की ही जरूरत है-चाहे वह गर्म हो या ठंडा, पर स्पर्शन इन्द्रिय की माँग है ठंडे पानी की, रसनेन्द्रिय की माँग है मीठे पानी की, घ्राण कहती है सुगंधित होना चाहिये, फिर आँख की पुकार होती है रंगीन हो तो ठीक रहेगा।

एयरकण्डीशन होटल में बैठकर रेडियो का गाना सुनते-सुनते जब हम ठंडा-मीठा-सुगंधित-रंगीन पानी पीते हैं तो एक गिलास का एक रुपया चुकाना पड़ता है। यह एक रुपया क्या प्यासे पेट की आवश्यकता थी? पेट की प्यास तो मुफ्त के एक गिलास पानी से बुझ सकती थी। एक रुपया पेट की प्यास बुझाने में नहीं, इन्द्रियों की प्यास बुझाने में गया है।

इन्द्रियों के गुलामों को न दिन का विचार है न रात का, न भक्ष्य का विचार है न अभक्ष्य का। उन्हें तो जब जैसा मिल जावे खाने-पीने-भोगने को तैयार हैं। बस उनकी तो एक ही माँग है कि इन्द्रियों को अनुकूल लगना चाहिए; चाहे वह पदार्थ हिंसा से उत्पन्न हुआ हो, चाहे मलिन ही क्यों न हो, इसका उन्हें कोई विचार नहीं रहता।

जिनके भक्षण में अनन्त जीवराशि का भी विनाश क्यों न हो-ऐसे पदार्थों के सेवन में भी इन्हें कोई परहेज नहीं होता, बल्कि उनका सेवन नहीं करने वालों की हँसी करने में ही इन्हें रस आता है। ये अपने असंयम की पुष्टि में अनेक प्रकार की कुतर्कें करते रहते हैं।

एक सभा के बीच ऐसे ही एक भाई सुभग बोले-"हमने सुना है कि आलू आदि जमीकंदों में अनन्त जीव रहते हैं?"

जब मैंने कहा-"रहते तो हैं।" तब कहने लगे-"उनकी आयु कितनी होती है?"

"एक श्वास के अठारहवें भाग" यह उत्तर पाकर बोले-"जब उनकी आयु ही इतनी कम है तो वे तो अपनी आयु की समाप्ति से ही मरते होंगे, हमारे खाने से तो मरते नहीं। फिर इनके खाने में क्या दोष है?"

हाँ! हम यही कहते हैं और ठीक कहते हैं, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति तो आत्मा में आत्मा से ही होती है। इन्द्रियों के माध्यम से तो वह वाह्य पदार्थों में लगता है, पर-पदार्थों में लगता है। इन्द्रियों के माध्यम से पुद्गल का ही ज्ञान होता है क्योंकि वे रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की ग्राहक हैं। आत्मा का हित आत्मा को जानने में है, अत. पर में लगा ज्ञान का क्षयोपशम ज्ञान की बर्बादी ही है, आबादी नहीं।

अनादिकाल से आत्मा ने पर को जाना, पर आज तक सुखी नहीं हुआ। किन्तु एक बार भी यदि आत्मा अपने आत्मा को जान लेता तो सुखी हुए बिना नहीं रहता।

यह तो ठीक, पर इससे संयम का क्या सम्बन्ध? यही कि संयमन का नाम ही तो संयम है, उपयोग को पर-पदार्थों से समेटकर निज में लीन होना ही संयम है। जैसा कि 'धवल' में कहा है और जिसे प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है।

यह आत्मा पर की खोज में इतना व्यग्र है और असंयमित हो गया है कि खोजने वाला ही खो गया है। परज्ञेय का लोभी यह आत्मा स्वज्ञेय को भूल ही गया है। वाह्य पदार्थों को जानने की व्यग्रता में अन्तर में झाँकने की फुर्सत ही नहीं है इसे।

यह एक ऐसा सेठ बन गया है जिसकी टेबल पर पाँच-पाँच फोन लगे हैं। एक से बात समाप्त नहीं होती कि दूसरे फोन की घंटी टनटना उठती है। उससे भी बात पूरी नहीं हो पाती कि तीसरा फोन बोल उठता है। इसीप्रकार फोनों का सिलसिला चलता रहता है। फोन पाँच-पाँच हैं और उनकी बात सुनने वाला एक है।

इसीप्रकार इन्द्रियाँ पाँच हैं और उनके माध्यम से जानने वाला आत्मा एक है। बाहरी तत्त्व पुद्गल की रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द सम्बन्धी सूचनाएँ इन्द्रियों के माध्यम से निरन्तर आती रहती हैं। कानों के माध्यम से सूचना मिलती है कि यह हल्ला-गुल्ला कहाँ हो रहा है? उस पर विचार ही नहीं कर पाता कि नाक कहती है—बदबू आ रही है। उसके बारे में कुछ सोचे कि आँख के माध्यम से कुछ काला-पीला दिखने लगता है। उसका कुछ विचार करे कि ठंडी हवा या गर्म लू का झोंका अपनी सत्ता का ज्ञान कराने लगता है। उससे सावधान भी नहीं हो पाता कि मुँह में रखे पान में यह कड़वापन कहाँ से आ गया—रसना यह सूचना देने लगती है।

क्या करे यह बेचारा आत्मा! बाहर की सूचनाएँ और जानकारियाँ ही इतनी आती रहती हैं कि अन्तर में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आत्मतत्त्व विराजमान है, उसकी ओर झांकने की भी इसे फुर्सत नहीं है।

इन्द्रियों के माध्यम से परज्ञेयों में उलझा यह आत्मा स्वज्ञेय निजात्मा को आज तक जान ही नहीं पाया – उसे माने कैसे, उसमें [illegible] एक विकट समस्या है।

रहेगा तो एक दिन वह उसी का हो जावेगा। उसी को अपनी माँ मानने लगेगा, जिसका दूध उसे प्रतिदिन मिलेगा। फिर वह आपकी भैंस को अपनी माँ न मान सकेगा।

आप समझते रहेंगे कि आपका पाडा दूसरे की भैंस का दूध पी रहा है, पर वह समझता है कि उसकी भैंस को बच्चा मिल गया है।

इसीप्रकार निरन्तर पर को ही जानने वाला ज्ञान भी एक तरह से पर का हो जाता है। वस्तुतः आत्मा को जानने वाला ज्ञान ही आत्मा का है, आत्मज्ञान है। पर को जानने वाला ज्ञान एक दृष्टि से ज्ञान ही नही है; वह तो अज्ञान है, ज्ञान की बर्बादी है।

लिखा भी है :—

आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।
विश्वशान्ति का मूल है, वीतराग-विज्ञान ।।[1]

संयम की सर्वोत्कृष्ट दशा ध्यान है। वह आँख बंद करके होता है, खोलकर नही। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मानुभव एव आत्मध्यान इन्द्रियातीत होता है; आत्मानुभव एव आत्मध्यानरूप संयम के लिए इन्द्रियो के प्रयोग की आवश्यकता नही है।

इन्द्रियज्ञान को भी हेय मानने वाले आत्मार्थी का जीवन अमर्यादित इन्द्रियभोगो मे लगा रहे, यह सभव नही है।

कहा भी है:—

ग्यान कला जिनके घट जागी, ते जगमाँहि सहज वैरागी।
ग्यानी मगन विषैसुखमाँही, यह विपरीति सभवै नाही ।।४१।।[2]

उत्तमसंयम के धारी महाव्रती मुनिराजो के तो भोग की प्रवृत्ति देखी ही नही जाती। देशसयमी अणुव्रती श्रावक के यद्यपि मर्यादित भोगों की प्रवृत्ति देखी जाती है, तथापि उनके तथा अव्रती सम्यग्दृष्टि के भी अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होती।

आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाला अन्तर्बाह्य उत्तमसंयम-धर्म हम सबको शीघ्रातिशीघ्र प्रकट हो, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ और भावना भाता हूँ कि —

'वो दिन कब पाऊँ, घर को छोड़ वन जाऊँ।'

---

[1] डॉ॰ भारिल्ल : वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका, [illegible]
[2] बनारसीदास : नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पृष्ठ १२६

# उत्तमतप

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम प्रवचनसार की तात्पर्य-वृत्ति नामक संस्कृत टीका (७९वीं गाथा) में तप की परिभाषा आचार्य जयसेन ने इसप्रकार दी है :-

'समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः ।'

समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्व स्वरूप में

देह और आत्मा का भेद नहीं जानने वाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि यदि घोर तपश्चरण भी करे तब भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। समाधिशतक में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं :–

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः ।।३३।।

जो अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्ष को प्राप्त नहीं करता।

उत्तमतप सम्यक्चारित्र का भेद है और सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान बिना नहीं होता। परमार्थ के बिना अर्थात् शुद्धात्मतत्त्वरूपी परम अर्थ की प्राप्ति बिना किया गया समस्त तप बालतप है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में लिखते हैं :–

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं वेंति सव्वण्हू ।।१५२।।

परमार्थ में अस्थित अर्थात् आत्मानुभूति से रहित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सब व्रतों और तप को सर्वज्ञ भगवान बालव्रत और बालतप कहते हैं।

जिनागम मे उत्तमतप की महिमा पद-पद पर गाई गई है। भगवती आराधना मे तो यहाँ तक लिखा है :–

तं णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स ।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी ।।१४७२।।
सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदुं ।
कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भा सयसहस्सं ।।१४७३।।

जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो निर्दोष तप से पुरुष को प्राप्त न हो सके अर्थात् तप से सर्व उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। जिसप्रकार प्रज्वलित अग्नि तृण को जलाती है; उसीप्रकार तपरूपी अग्नि कर्मरूप तृण को जलाती है। उत्तम प्रकार से किया गया कर्मास्रव रहित तप का फल वर्णन करने मे हजार जिह्वा वाला भी समर्थ नहीं हो सकता।

तप की महिमा गाते हुए महाकवि द्यानतरायजी लिखते हैं :–

तप चाहैं सुरराय, करम शिखर को वज्र है।
द्वादश विध सुखदाय, क्यों न करै निज सकति सम ।।

में उलझे किन्तु दश-दश दिन तक उपवास के नाम पर लंघन करने वालों को बड़ा तपस्वी मानती है, उनके सामने ज्यादा झुकती है; जबकि आचार्य समन्तभद्र ने तपस्वी की परिभाषा इसप्रकार दी है :—

> विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः ।
> ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।[1]

पंचेन्द्रियों के विषयों की आशा, आरम्भ और परिग्रह से रहित; ज्ञान, ध्यान और तप में लीन तपस्वी ही प्रशंसनीय है।

उपवास के नाम पर लंघन की बात क्यों करते हो ?

इसलिये कि ये लोग उपवास का भी तो सही स्वरूप नहीं समझते। मात्र भोजन-पान के त्याग को उपवास मानते हैं, जबकि उपवास तो आत्मस्वरूप के समीप ठहरने का नाम है। नास्ति से भी विचार करें तो पंचेन्द्रियों के विषय, कषाय और आहार के त्याग को उपवास कहा गया है, शेष तो सब लंघन है।

> कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते ।
> उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदु: ।।[2]

इसप्रकार हम देखते हैं कि कषाय, विषय और आहार के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप के समीप ठहरना – ज्ञान-ध्यान में लीन रहना ही वास्तविक उपवास है। किन्तु हमारी स्थिति क्या है ? उपवास के दिन हमारी कषायें कितनी कम होती हैं ? उपवास के दिन तो ऐसा लगता है जैसे हमारी कषायें चौगुनी हो गई हैं।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त बारह तपों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा, इसीप्रकार अन्त तक उत्तरोत्तर तप अधिक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण हैं। अनशन पहला तप है और ध्यान अन्तिम। ध्यान यदि लगातार अन्तर्मुहूर्त करे तो निश्चित रूप से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, किन्तु उपवास वर्ष भर भी करे तो केवलज्ञान की गारण्टी नहीं। यह नकली उपवास की बात नहीं, असली उपवास की बात है। प्रथम तीर्थंकर मुनिराज ऋषभदेव दीक्षा लेते ही एक वर्ष, एक माह और आठ दिन तक निराहार रहे, फिर भी हजार वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ। भरत चक्रवर्ती को दीक्षा लेने के बाद आत्मध्यान के बल से एक अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान हो गया।

---

[1] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, छन्द १०

[2] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३१

अनशन से अवमौदर्य, अवमौदर्य से वृत्तिपरिसंख्यान, वृत्तिपरिसंख्यान से रसपरित्याग अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए इनका सामान्य स्वरूप जानना आवश्यक है।

अनशन में भोजन का पूर्णतः त्याग होता है, पर अवमौदर्य में एक बार भोजन किया जाता है; इसकारण इसे एकासन भी कहते हैं। यद्यपि इसमें एक बार भोजन किया जाता है, तथापि भर पेट नहीं; इसकारण इसे ऊनोदर भी कहते हैं। किन्तु आज यह ऊनोदर न रहकर दूनोदर हो गया है; क्योंकि लोग एकासन में एक समय का नहीं, दोनों समय का गरिष्ठ भोजन कर लेते हैं।

भोजन को जाते समय अनेक प्रकार की अटपटी प्रतिज्ञाएँ ले

पर भी अधपेट रह जाने में — बीच में ही भोजन छोड़ देने में इच्छा का निरोध अधिक है।

इसीप्रकार भोजन को जाना ही नही अलग बात है, किन्तु जाकर भी अटपटे नियमों के अनुसार भोजन न मिलने पर भोजन नहीं करना अलग बात है। उससे इसमें इच्छा-निरोध अधिक है। तथा सरस भोजन की प्राप्ति होने पर भी नीरस भोजन करना — उससे भी अधिक इच्छा निरोध की कसौटी है।

अनशन में इच्छाओं की अपेक्षा पेट का निरोध अधिक है। ऊनोदरादि में क्रमश. पेट के निरोध की अपेक्षा इच्छाओ का निरोध अधिक है। अतः अनशनादि की अपेक्षा आगे-आगे के तप अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हमने पेट के काटने को तप मान लिया है जबकि आचार्यों ने इच्छाओं के काटने को तप कहा है।

उक्त तपों में शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुये रसनेन्द्रिय पर पूरा-पूरा अनुशासन रखा गया है। उन्होंने जीवन भर किसी रस विशेष का त्याग करने की अपेक्षा बदल-बदल कर रसों के त्याग पर बल दिया। रविवार को नमक नही खाना, बुधवार को घी नही खाना आदि रसियों की कल्पना मे यही भावना काम करती है। एक रस छह दिन खाने और एक दिन नही खाने मे शरीर के लिए आवश्यक तत्त्वों की कमी भी नही होगी और स्वाद की प्रमुखता भी समाप्त हो जावेगी।

कोई व्यक्ति यदि जीवन भर को नमक या घी छोड़ देता है तो प्रारम्भ के कुछ दिनो तक तो उसे भोजन बेस्वाद लगेगा, परन्तु बाद मे उसी भोजन में स्वाद आने लगेगा; शरीर में उस तत्त्व की कमी हो जाने से स्वास्थ्य मे गड़बड़ी हो सकती है। किन्तु छह दिन खाने के बाद यदि एक दिन घी या नमक न भी खावे तो शारीरिक हानि बिल्कुल न होगी और भोजन बेस्वाद हो जावेगा; अत. रसना पर अकुश रहेगा।

एक मुनिराज ने एक माह का उपवास किया। फिर आहार को निकले। निरंतराय आहार मिल जाने पर भी एक ग्रास भोजन लेकर वापिस चले गये। फिर एक माह का उपवास कर लिया। यह ऊनोदर का उत्कृष्ट उदाहरण है।

मैं यह नही कहता कि माता-पिता की विनय नहीं करना चाहिए। माता-पिता आदि गुरुजनो की यथायोग्य विनय तो की ही जानी चाहिए। मेरा कहना तो यह है कि माता-पिता की विनय, विनयतप नहीं है। क्योंकि तप मुनियों के होता है और मुनि बनने के पहले ही माता-पिता का त्याग हो जाता है।

माता-पिता आदि की विनय लौकिक विनय है और विनयतप मे अलौकिक अर्थात् धार्मिक-आध्यात्मिक विनय की बात आती है।

विनयतप चाहे जहाँ माथा टेक देने वाले तथाकथित दीन गृहस्थों के नही, पंचपरमेष्ठी के अतिरिक्त कही भी नही नमने वाले मुनिराजो के होता है।

बिना विचारे जहाँ-तहाँ नमने का नाम विनयतप नही, वैनयिक-मिथ्यात्व है। विनय अपने-आप में अत्यन्त महान आत्मिक दशा है। सही जगह होने पर जहाँ वह तप का रूप धारण कर लेती है, वही गलत जगह की गई विनय अनंत ससार का कारण बनती है।

विनय सबसे बड़ा धर्म, सबसे बड़ा पुण्य, एवं सबसे बड़ा पाप भी है। विनय तप के रूप में सबसे बड़ा धर्म, सोलहकारण भावनाओं में विनयसम्पन्नता के रूप मे तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण होने से सबसे बड़ा पुण्य, और विनयमिथ्यात्व के रूप में अनंत संसार का कारण होने से सबसे बड़ा पाप है।

विनय के प्रयोग मे अत्यन्त सावधानी आवश्यक है। कहीं ऐसा न हो कि आप जिसे विनयतप समझकर कर रहे हो, वह विनय-मिथ्यात्व हो। इसका ध्यान रखिए कि कहीं आप विनयतप या विनय-सम्पन्नता भावना के नाम पर विनयमिथ्यात्व का पोषण कर अनंत ससार तो नहीं बढ़ा रहे हैं?

विनय का यदि सही स्थान पर प्रयोग हुआ तो तप होने से कर्म को काटेगी, किन्तु गलत स्थान पर प्रयुक्त विनय मिथ्यात्व होने से धर्म को ही काट देती है। यह एक ऐसी तलवार है जो चलाई तो अपने माथे पर जाती है और काटती है शत्रुओं के माथों को, पर सही प्रयोग हुआ तो। यदि गलत प्रयोग हुआ तो अपना माथा भी काट सकती है। अतः इसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से किया जाना चाहिए।

उपचारविनय में कुछ लोग माता-पिता आदि लौकिकजनों की विनय को लेते हैं पर यह ठीक नहीं है।

ज्ञानविनय निश्चयविनय है और ज्ञानी की विनय उपचारविनय है, दर्शनविनय निश्चयविनय है और सम्यग्दृष्टि की विनय उपचार-विनय है, चारित्र की विनय निश्चयविनय है और चारित्रवंतों की विनय उपचारविनय है। इसप्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विनय निश्चयविनय और इनके धारक देव-गुरुओं की विनय उपचार-विनय है।

विनयतप तपधर्म का भेद है, अत इसका उपचार भी धर्मात्माओं मे ही किया जा सकता है; लौकिक जनों मे नही।

किसी के चरणो में मात्र माथा टेक देने का नाम विनयतप नही है। वाहर से तो मायाचारी जितना नमता है – हो सकता है असली विनयवान उतना नमता दिखाई न भी दे। यहाँ वाह्य विनय की वात नही, अतरग बहुमान की वात है, विनय अतरग तप है। वाहर से नमने वालो की फोटू खीची जा सकती है, अतरग वालो की नही। ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति अन्तर मे अनन्त बहुमान के भाव और उनकी पूर्णता को प्राप्त करने के भाव का नाम विनयतप है।

वाहर से नमनेरूप विनय तो कभी-कभी ही देखी जा सकती है, पर बहुमान का भाव तो सदा रहता है। अतः ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति अत्यन्त महिमावत मुनिराजो के विनयतप सदा ही रहता है।

वैयावृत्यतप के सम्बन्ध मे भी जगत मे कम भ्रान्त धारणाएँ नही हैं। तपस्वी साधुओ की सेवा करने, पैर दवाने आदि को ही वैयावृत्य समझा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि वैयावृत्ति करना तप है या कराना अर्थात् दूसरो के पैर दावना तप है या दूसरो से पैर दववाना तप है? यदि पैर दावना तप है तो फिर पैर दावने वाले गृहस्थ के तप हुआ, दववाने वाले मुनिराज के नही; जबकि तपस्वी मुनिराज को कहा जाता है। ये वारह तप हैं भी मुख्यतः मुनिराजो के ही।

यदि आप यह कहें कि पैर दववाना तप है तो फिर ऐसा तप किसे स्वीकार न होगा? दूसरे हमारी सेवा करें और सेवा करवाने से हम तपस्वी हो जावें, इससे अच्छा और क्या होगा?

यद्यपि स्वाध्याय के भेदों में वांचना, पृच्छना आदि आते हैं तथापि यद्वा-तद्वा कुछ भी वांचना, पूछना स्वाध्याय नहीं है। क्या वांचना ? कैसे वांचना ? क्या पूछना ? किससे पूछना ? कैसे पूछना ? आदि विवेकपूर्वक किये गये वांचना, पृच्छना आदि ही स्वाध्याय कहे गये हैं।

मंदिर में गये; जो भी शास्त्र हाथ लगा, उसी को – जहाँ से खुल गया दो चार पंक्तियाँ खड़े-खड़े पढ़ली और स्वाध्याय हो गया, वह भी इसलिये कि महाराज प्रतिज्ञा लिवा गये थे कि 'प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करना' – यह स्वाध्याय नहीं है।

हमें आध्यात्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढ़ने की है। ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो। साधारण लोग तो बँधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हों। आदि से अन्त तक अखण्डरूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ़ भी नहीं सकते तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे संभव है ? जब हमारी इतनी भी रुचि नहीं कि उसे अखण्डरूप से पढ़ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखण्ड वस्तु का अखण्ड स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति में कैसे आवे ?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं, उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं ? यदि नहीं, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं जितनी विषय-कषाय में है।

'रुचि अनुयायी वीर्य' के नियमानुसार हमारी सम्पूर्ण शक्ति वहीं लगती है, जहाँ रुचि होती है। स्वाध्यायतप के उपचार को भी प्राप्त करने के लिए हमें आध्यात्मिक साहित्य में अनन्य रुचि जागृत करनी होगी।

स्वाध्यायतप के पाँच भेद किये गये हैं :–

(१) वाचना, (२) पृच्छना (पूछना), (३) अनुप्रेक्षा (चिन्तन), (४) आम्नाय (पाठ) और (५) धर्मोपदेश।

इनमें स्वाध्याय की प्रक्रिया का क्रमिक विकास लक्षित होता है।

चिन्तन तो हमारे जीवन से समाप्त ही हो रहा है। पाठ भी किया जाता है, पर बिना समझे मात्र दुहराना होता है; दुहराना भी सही रूप से कहाँ हो पाता है ?

भक्तामर और तत्त्वार्थसूत्र का नित्य पाठ सुनने वाली बहुतसी माता-बहिनों को उनमें प्रतिपादित विषयवस्तु की बात तो बहुत दूर, उसमें कितने अध्याय हैं – इतना भी पता नहीं होता है। किन्हीं महाराज से प्रतिज्ञा ले ली है कि सूत्रजी का पाठ सुने बिना भोजन नहीं करूँगी – सो उसे ढोये जा रही हैं।

वास्तविक 'पाठ' तो वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षापूर्वक होता है। विषय का मर्म ख्याल में आ जाने के बाद उसे धारणा मे लेने के उद्देश्य से 'पाठ' किया जाता है।

उपदेश का क्रम सबसे अन्त में आता है, पर आज हम उपदेशक पहिले बनना चाहते हैं – वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और आम्नाय के बिना ही। धर्मोपदेश के सुनने वाले भी इसके प्रति सावधान नही दिखाई देते। धर्मोपदेश के नाम पर कोई भी उन्हें कुछ भी सुना दे; उन्हें तो सुनना है, सो सुन लेते हैं। वक्ता और वक्तव्य पर उनका कोई ध्यान ही नही रहता।

मैं एक बात पूछता हूँ कि यदि आपको पेट का ऑपरेशन कराना हो तो क्या बिना जाने चाहे जिससे करा लेंगे ? डॉक्टर के बारे मे पूरी-पूरी तपास करते हैं। डॉक्टर भी जिस काम में माहिर न हो, वह काम करने को सहज तैयार नही होता। डॉक्टर और ऑपरेशन की बात तो बहुत दूर; यदि हम कुर्ता भी सिलाना चाहते हैं तो होशियार दर्जी तलाशते हैं, और दर्जी भी यदि कुर्ता सीना नही जानता हो तो सीने से इन्कार कर देता है। पर धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि चाहे जो बिना जाने-समझे उपदेश देने को तैयार हो जाता है और उसे सुनने वाले भी मिल ही जाते हैं।

वस्तुतः बात यह है कि धर्मोपदेश देने और सुनने को हम गंभीररूप से ग्रहण ही नही करते, यों ही हलके-फुलके निकाल देते है। अरे भाई ! धर्मोपदेश भी एक तप है, वह भी अतरंग; इसे आप खेल समझ रहे हैं। इसकी गंभीरता को जानिए – पहचानिए। उपदेश देने-लेने की गंभीरता को समझिये, इसे मनोरंजन और समय काटने की चीज मत बनाइये। यह मेरा विनम्र अनुरोध है।

# उत्तमत्याग

उत्तमत्यागधर्म की चर्चा जब भी चलती है तब-तब प्राय दान को ही त्याग समझ लिया जाता है। त्याग के नाम पर दान के ही गीत गाये जाने लगते हैं, दान की ही प्रेरणाएँ दी जाने लगती हैं।

सामान्यजन तो दान को त्याग समझते ही हैं; किन्तु आश्चर्य तो तब होता है जब उत्तमत्यागधर्म पर वर्षों व्याख्यान करने वाले विद्वज्जन भी दान के अतिरिक्त भी कोई त्याग होता है – यह नहीं समझाते या स्वयं भी नहीं समझ पाते।

यद्यपि जिनागम में दान को भी त्याग कहा गया है, दान देने की प्रेरणा भी भरपूर दी गई है, दान की भी अपनी एक उपयोगिता है, महत्त्व भी है; तथापि जब गहराई में जाकर निश्चय से विचार करते हैं तो दान और त्याग में महान अन्तर दिखाई देता है। दान और त्याग बिल्कुल भिन्न-भिन्न दो चीजें प्रतीत होती हैं।

त्याग धर्म है, और दान पुण्य। त्यागियों के पास रंचमात्र भी परिग्रह नहीं होता, जबकि दानियों के पास ढेर सारा परिग्रह पाया जा सकता है।

त्याग की परिभाषा श्री प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका (गाथा २३९) में आचार्य जयसेन ने इसप्रकार दी है :–

'निजशुद्धात्मपरिग्रह कृत्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः।'

निज शुद्धात्म के ग्रहणपूर्वक बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्ति त्याग है।

इसी बात को बारस-अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) में इसप्रकार कहा गया है :–

> णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्व दव्वेसु।
> जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥७८॥

जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जो जीव सम्पूर्ण परद्रव्यों से मोह छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीनरूप परिणाम रखता है; उसके त्यागधर्म होता है।

आपकी बात बिल्कुल ठीक है, पर समझने की बात यह है कि 'दान' व्यवहारधर्म है और 'त्याग' निश्चयधर्म ।

ये धनादि परपदार्थ जिन पर लौकिक दृष्टि से अपना अधिकार है, व्यवहार से अपने हैं; उन्हें अपना जानकर ही दान दिया जाता है । लेन-देन स्वयं व्यवहार है, निश्चय में तो लेने-देने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । रही परपदार्थ के त्याग की बात, सो पर को पर जानना ही उनका त्याग है – इससे अधिक त्याग और क्या है ? वे तो पर हैं ही, उनको क्या त्यागें ? पर बात यह है कि उन्हें हम अपना मानते हैं, उनसे राग करते हैं; अतः उनको अपना मानना और उनसे राग करना त्यागना है । इसलिये यह ठीक ही कहा है कि पर को पर जानकर उनके प्रति राग का त्याग करना ही वास्तविक

वे भी गलती करते हैं जो उसे पुण्य बंध का कारण भी नहीं मानते अर्थात् व्यवहारधर्म भी स्वीकार नहीं करते ।

त्याग खोटी चीज का किया जाता है और दान अच्छी चीज का दिया जाता है। यही कहा जाता है कि क्रोध छोडो, मान छोडो, माया छोड़ो, लोभ छोडो; यह कोई नहीं कहता कि ज्ञान छोडो। जो दु:ख-स्वरूप हैं, दु:खकर हैं, आत्मा का अहित करने वाले हैं – वे मोह-राग-द्वेष रूप आस्रवभाव ही हेय हैं, त्यागने योग्य हैं, इनका ही त्याग किया जाता है। इनके साथ ही इनके आश्रयभूत अर्थात् जिनके लक्ष्य से मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं – ऐसे पुत्रादि चेतन एव धन-मकानादि अचेतन पदार्थों का भी त्याग होता है। पर मुख्य बात मोह-राग-द्वेष के त्याग की ही है, क्योंकि मोह-राग-द्वेष के त्याग से इनका त्याग नियम से हो जाता है; किन्तु इनके त्याग देने पर भी यह गारटी नहीं कि मोह-राग-द्वेष छूट ही जावेंगे।

बहुत से लोग तो त्याग और दान को पर्यायवाची ही समझने लगे हैं। किन्तु उनका यह मानना एकदम गलत है। ये दोनों शब्द पर्यायवाची तो हैं ही नहीं, अपितु कुछ अंशों में इनका भाव परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध पाया जाता है।

यदि ये दोनों शब्द एकार्थवाची होते तो एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग आसानी से किया जा सकता था। किन्तु जब हम इस प्रकार का प्रयोग करके देखते हैं तो अर्थ एकदम बदल जाता है। जैसे दान चार प्रकार का कहा गया है – (१) आहारदान, (२) औषधिदान, (३) ज्ञानदान और (४) अभयदान।

अब जरा उक्त चारों शब्दों में 'दान' के स्थान पर 'त्याग' शब्द का प्रयोग करके देखें तो सारी स्थिति स्वय स्पष्ट हो जाती है।

क्या आहारदान और आहारत्याग एक ही चीज है? इसी प्रकार क्या औषधिदान और औषधित्याग को एक कहा जा सकता है?

नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि आहारदान और औषधिदान में दूसरे पात्र-जीवों को भोजन और औषधि दी जाती है, जबकि आहार-त्याग और औषधित्याग में आहार और औषधि का स्वयं सेवन करने का त्याग किया जाता है। आहारत्याग और औषधित्याग में किसी को कुछ देने का सवाल ही नहीं उठता। इसीप्रकार आहारदान

और औषधिदान में आहार और औषधि के त्यागने का (नहीं खाने का) प्रश्न नहीं उठता।

आहारदान दीजिए और स्वयं भी खूब खाइये, कोई रोक-टोक नहीं; पर आहार का त्याग किया तो फिर खाना-पीना नहीं चलेगा।

आहार और औषधि के सम्बन्ध में कहीं कुछ अधिक अटपटा नहीं भी लगे, किन्तु जब 'ज्ञानदान' के स्थान पर 'ज्ञानत्याग' शब्द का प्रयोग किया जाए तो बात एकदम अटपटी लगेगी। क्या ज्ञान का भी त्याग किया जाता है? क्या ज्ञान भी त्यागने योग्य है? क्या ज्ञान का त्याग किया भी जा सकता है?

इसीप्रकार की बात अभयदान और अभयत्याग के बारे में

कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका त्याग होता है, दान नहीं। कुछ ऐसी हैं जिनका दान होता है, त्याग नहीं। कुछ ऐसी भी हैं जिनका दान भी होता है और त्याग भी। जैसे – राग-द्वेष, माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि को छोड़ा जा सकता है, उनका दान नहीं दिया जा सकता; ज्ञान और अभय का दान दिया जा सकता है, पर वे त्यागे नहीं जाते, तथा औषधि, आहार, रुपया-पैसा आदि का त्याग भी हो सकता है और दान भी दिया जा सकता है।

शास्त्रों में कहीं-कहीं त्याग और दान शब्दों का एक अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। इस कारण भी इन दोनों के एकार्थवाची होने के भ्रम फैलने में बहुत कुछ सहायता मिली है। शास्त्रों में जहाँ इसप्रकार के प्रयोग हैं वहाँ वे इस अर्थ में हैं – निश्चयदान अर्थात् त्याग और व्यवहारत्याग अर्थात् दान। जब वे दान कहते हैं तो उसका अर्थ सिर्फ दान होता है और जब निश्चयदान कहते हैं तो उसका अर्थ त्यागधर्म होता है। इसीप्रकार जब वे त्याग कहते हैं तो उसका अर्थ त्यागधर्म होता है और जब व्यवहारत्याग कहते हैं तो उसका अर्थ दान होता है।

इसप्रकार का प्रयोग दशलक्षण पूजन में भी हुआ है। उसमें कहा है :-

उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषधि शास्त्र अभय आहारा।<br>
निश्चय राग-द्वेष निरवारे, ज्ञाता दोनों दान संभारे॥

यहाँ ऊपर की पंक्ति में जहाँ उत्तम त्याग धर्म को जगत में सारभूत बताया गया है वहीं साथ में उसके चार भेद भी गिना दिये जो कि वस्तुतः चार प्रकार के दान हैं और जिनकी विस्तार से चर्चा की जा चुकी है।

अब प्रश्न उठता है कि ये चार दान क्या त्यागधर्म के भेद हैं? पर नीचे की पंक्ति पढ़ते ही सारी बात स्पष्ट हो जाती है। नीचे की पंक्ति में साफ-साफ लिखा है कि निश्चयत्याग तो राग-द्वेष का अभाव करना है। यद्यपि ऊपर की पंक्ति में व्यवहार शब्द का प्रयोग नहीं है, तथापि नीचे की पंक्ति में निश्चय का प्रयोग होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऊपर जो बात है वह व्यवहारत्याग अर्थात् दान की है। आगे और भी स्पष्ट है कि 'ज्ञाता दोनों दान संभारे' अर्थात् ज्ञानी आत्मा निश्चय और व्यवहार दोनों को सम्हालता है। 'दोनों दान' शब्द सब कुछ स्पष्ट कर देता है।

दिखाई देंगे। उन्हें ही दानवीर की उपाधियाँ दी जाती हैं। किसी आहार, औषधि या ज्ञान देने वाले को कभी 'दानवीर' बनाया गया हो तो बताएँ ? एक भी ज्ञानी पंडित या वैद्य समाज में 'दानवीर' की उपाधि से विभूषित दिखाई नहीं देता। जितने दानवीर होंगे वे सेठों में ही मिलेंगे। वणिक वर्ग इससे आगे सोच भी क्या सकता है ? इसने एक लाख दिये, उसने पाँच लाख दिए – ऐसी ही चर्चा सर्वत्र होती देखी जाती है।

पर मैं सोचता हूँ चार दानों में तो पैसादान, रुपयादान नाम का कोई दान है नहीं; उनमें तो आहार, औषधि, ज्ञान और अभय दान हैं; यह पैसादान कहाँ से आ गया ?

दान निर्लोभियों की क्रिया थी, जिसे यश और पैसे के लोभियों ने विकृत कर दिया है।

'हमारी संस्था को पैसा दो तो चारों दानों का लाभ मिलेगा', ऐसी बातें करते प्रचारक आज सर्वत्र देखे जा सकते हैं। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे कहेंगे – "छात्रावास में लड़के रहते हैं, वे वहीं भोजन करते हैं, अत: आहारदान हो गया। उन्हें कानून या डॉक्टरी या और भी इसीप्रकार की कोई लौकिक शिक्षा देते हैं, अत: ज्ञानदान हो गया। वे बीमार हो जाते हैं तो उनका अस्पताल में इलाज कराते हैं, यह औषधिदान और अखाड़े में व्यायाम करते हैं, यह अभयदान हो गया।"

मैं पूछता हूँ क्या अपात्रों को दिया गया भोजन आहारदान है ? कहा भी है :–

> मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु।
> दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु॥

चारित्राभास को धारण करने वाले मिथ्यादृष्टियों को दान देना सर्प को दूध पिलाने के समान केवल अशुभ के लिये ही होता है।

शास्त्रों में तीन प्रकार के पात्र कहे हैं, वे सब चौथे गुणस्थान से ऊपर वाले ही होते हैं।

तथा लौकिकशिक्षा ज्ञान है या मिथ्याज्ञान ? इसीप्रकार अभक्ष्य औषधियों का देना ही औषधिदान है क्या ? जिस अभक्ष्य औषधि के सेवन से पाप माना गया है उसे देने में दान-पुण्य या त्यागधर्म कैसे होगा ?

दान देने वाले से लेने वाला बड़ा होता है। पर यह बात तब है जब देने वाला योग्य दातार और लेने वाला योग्य पात्र हो। मुनिराज आहारदान लेते हैं और गृहस्थ आहारदान देते हैं। मुनिराज त्यागी हैं, त्यागधर्म के धनी हैं, गृहस्थ दानी है, अत. पुण्य का भागी है। धर्मतीर्थ के प्रवर्तक बाह्याभ्यतर परिग्रहो के त्यागी भगवान आदिनाथ हुए और उन्हे ही मुनि अवस्था मे आहार देने वाले राजा श्रेयास दानतीर्थ के प्रवर्तक माने गए हैं।

गृहस्थ नौ बार नमकर मुनिराज को आहार दान देता है, पर आज दान के नाम पर भीख मागने वालों ने दातारो की चापलूसी करके उन्हें दानी से मानी बना दिया है। देने वाले का हाथ ऊंचा रहता है, यदि चापलूसी करते लोग कहीं भी देते जा सकते हैं। आकाश के प्रदेशो में ऊँचा रहने से कोई ऊँचा नही हो जाता। मक्खी राजा के मस्तक पर भी बैठ जाती है तो क्या वह महाराजा हो गई? गृहस्थो से मुनिराज सदा ही ऊँचे हैं। दातार भी यह मानता है, पर इन चापलूसो को कौन समझाए?

दानी से त्यागी सदा ही महान होता है; क्योंकि त्याग धर्म है, और दान पुण्य।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि आहारदान मे तो ठीक, पर ज्ञानदान मे यह बात कैसे सम्भवित होगी?

इसप्रकार कि ज्ञानदान अर्थात् समझाना; समझाने का भाव भी शुभभाव होने से पुण्यबंध का कारण है। अत: समझाने वाले को पुण्य का लाभ अर्थात् पुण्य का बंध ही होता है जबकि समझने वाले को ज्ञानलाभ प्राप्त होता है। लाभ की दृष्टि से ज्ञानदान लेनेवाला फायदे में रहा।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि आप तो स्वयं ही पैसों का दान देने और लेने वालों की आलोचना करते हैं। यदि ऐसा न हो तो संस्थाएँ चलें कैसे?

अरे भाई! हम उनकी बुराई नही करते। किन्तु दान का सही स्वरूप न समझने के कारण दान देकर भी जो दान का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त नही कर पाते – उनके हित की नदर में रखकर उसका सही स्वरूप बताते हैं, जिसे जानकर वे वास्तविक लाभ उठा सकें। रही बात संस्थाओं की सो आप उनकी बिल्कुल चिन्ता न करें। यदि

आत्मार्थियों को दिया गया आत्महितकारी तत्त्वोपदेश एवं शास्त्रादि लिखना-लिखाना, घर-घर तक पहुँचाना आदि ज्ञानदान; शुभभावरूप होने से पुण्यबंध के कारण हैं।

ज्ञानी जीवों को अपनी शक्ति एव भूमिकानुसार उक्त दानो को देने का भाव अवश्य आता है, वे दान देते भी खूब हैं; किन्तु उसे त्यागधर्म नही मानते, नही जानते। त्यागधर्म भी ज्ञानी श्रावकों के भूमिकानुसार अवश्य होता है और वे उसे ही वास्तविक त्यागधर्म मानते-जानते हैं।

यशादि के लोभ से दान देने वालों की आलोचना सुनकर दान नही देने वालो को प्रसन्न होने की आवश्यकता नही है। नही देने से तो देना अच्छा ही है, मान के लिये ही सही, उनके देने से उन्हें भले ही उसका लाभ न मिले, पर तत्त्वप्रचार आदि का कार्य तो होता ही है। यह बात अलग है कि वह वास्तविक दान नही है। अतः दान का सही स्वरूप समझकर हमे अपनी शक्ति और योग्यतानुसार दान तो अवश्य ही करना चाहिए।

दान देने की प्रेरणा देते हुए आचार्य पद्मनन्दी ने लिखा है –

> सत्पात्रेषु यथाशक्ति, दान देय गृहस्थितैः।
> दानहीना भवेत्तेषा, निष्फलैव गृहस्थता ॥३१॥[1]

गृहस्थ श्रावकों को शक्ति के अनुसार उत्तम पात्रो के लिए दान अवश्य देना चाहिए, क्योंकि दान के बिना उनका गृहस्थाश्रम निष्फल ही होता है।

खुरचन प्राप्त होने पर कौआ भी उसे अकेले नही खाता, बल्कि अन्य साथियो को बुलाकर खाता है। अत यदि प्राप्त धन का उपयोग धार्मिक और सामाजिक कार्यों में न करके उसे अकेले अपने भोग में ही लगायेगा तो यह मानव कौए से भी गया बीता माना जायगा।

यहाँ जो बात कही जा रही है वह दान की हीनता या निषेधरूप नही है। किन्तु त्याग और दान में क्या अन्तर है – यह स्पष्ट किया जा रहा है।

दान की यह आवश्यक शर्त है कि जो देना है, जितना देना है, वह कम से कम उतना, देने वाले के पास अवश्य होना चाहिए; अन्यथा देगा क्या और कहाँ से देगा? पर त्याग में ऐसा नही है। जो वस्तु हमारे पास नही है, उसको भी त्यागा जा सकता है। उसे मैं प्राप्त करने का यत्न नही करूँगा, सहज में प्राप्त हो जाने पर भी

---

1. पद्मनंदिपंचविंशतिका : उपासकसंस्कार, श्लोक ३१

परिग्रह दो प्रकार का होता है – आभ्यन्तर और बाह्य।

आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेषादिभावरूप आभ्यन्तर परिग्रह को निश्चयपरिग्रह और बाह्य परिग्रह को व्यवहारपरिग्रह भी कहा जाता है। जैसा कि 'धवल' में कहा है :–

"ववहारणयं पडुच्च खेत्तादी गंथो, अब्भंतरगंथकारणत्तादो। एदस्स परिहरणं णिग्गंथत्तं। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गंथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथत्तं।"[1]

व्यवहारनय की अपेक्षा से क्षेत्रादिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे आभ्यंतर-ग्रंथ के कारण हैं, इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। निश्चयनय की अपेक्षा से मिथ्यात्वादि ग्रंथ हैं, क्योंकि वे कर्मबंध के कारण हैं और उनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है।

इसप्रकार निर्ग्रन्थता अर्थात् आकिंचन्यधर्म के लिये आभ्यंतर और बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रह का अभाव (त्याग) आवश्यक है। यही निश्चय-व्यवहार की संधि भी है।

आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार के होते हैं –

१ मिथ्यात्व, २ क्रोध, ३ मान, ४ माया, ५ लोभ, ६ हास्य, ७. रति, ८ अरति, ६ शोक, १० भय, ११ जुगुप्सा (ग्लानि), १२ स्त्रीवेद, १३ पुरुषवेद और १४ नपुंसकवेद।

बाह्य परिग्रह दस प्रकार के होते हैं –

१ क्षेत्र (खेत, प्लाट), २ वास्तु (निर्मित भवन), ३. धन (चांदी, सोना, जवाहरात, मुद्रा), ४ धान्य, ५ द्विपद (मनुष्य, पक्षी), ६. चतुष्पद (पशु), ७. यान (सवारी), ८ शय्यासन, ६. कुप्य, १०. भांड।[2]

इसप्रकार परिग्रह कुल चौबीस प्रकार के माने गये हैं। कहा भी है :–

'परिग्रह चौबीस भेद, त्याग करें मुनिराज जी।'[3]

उक्त चौबीस प्रकार के परिग्रह के त्यागी मुनिराज उत्तम आकिंचन्यधर्म के धारी होते हैं।

---

[1] धवला पुस्तक ६, खण्ड ४, भाग १, सूत्र ६७, पृष्ठ ३२३
[2] मूलाचार, प्रथम भाग, अधिकार ५, श्लोक २११, आचारसार, वीरनन्दिकृत, अधिकार ५, श्लोक ६१
[3] दशलक्षण पूजन, उत्तम आकिंचन्य का छन्द

मिथ्यात्व का अभाव किये बिना ही अपरिग्रही बनने के यत्न नहीं किये जाते।

परिग्रह सबसे बड़ा पाप है और आकिञ्चन्य सबसे बड़ा धर्म। जगत में जितनी भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं – उन सबके मूल में परिग्रह है। जब मोह-राग-द्वेष आदि सभी विकारी भाव परिग्रह हैं तो फिर कौन सा पाप बच जाता है जो परिग्रह की सीमा में न आ जाता हो।

मोह-राग-द्वेष भावों की उत्पत्ति का नाम ही हिंसा है। कहा भी है :–

> अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
> तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥[1]

राग-द्वेष-मोह आदि विकारी भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है और उन भावों का उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है।

झूठ, चोरी, कुशील में भी राग-द्वेष-मोह ही काम करते हैं। अतः राग-द्वेष-मोहमय होने से परिग्रह सबसे बड़ा पाप है।

क्षमा तो क्रोध के अभाव का नाम है। इसीप्रकार मार्दव मान के, आर्जव माया के तथा शौच लोभ के अभाव का नाम है। पर आकिञ्चन्यधर्म – क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद – सभी कषायों के अभाव का नाम है। अतः आकिञ्चन्य सबसे बड़ा धर्म है।

आज तो बाह्य परिग्रह में भी मात्र रुपये-पैसे को ही परिग्रह माना जाता है; धन-धान्यादि की ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाता। किसी भी परिग्रह-परिमाणधारी अणुव्रती से पूछिये कि आपका परिग्रह का परिमाण क्या है? तो तत्काल रुपयों-पैसों में उत्तर देंगे। कहेंगे कि – "दश हजार या बीस हजार।" "और—?" यह पूछेंगे तो कहेंगे – "और क्या ?"

मैं जानना चाहता हूँ कि क्या रुपया-पैसा ही परिग्रह है और कोई परिग्रह नहीं? धन-धान्य, क्षेत्र-वास्तु, स्त्री-पुत्रादि बाह्य परिग्रहों की भी बात नहीं, तो क्रोध-मानादि अन्तरंग परिग्रहों को कौन पूछता है?

---

[1] आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द ४४

जिन रुपयों-पैसों को जगत परिग्रह माने बैठा है, वह अंतरंग परिग्रह तो है ही नहीं, पर धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहों में भी उसका नाम नहीं है। वह तो बाह्य परिग्रहों के विनिमय का कृत्रिम साधन मात्र है। उसमें स्वयं कुछ भी ऐसा नहीं, जिसके लोभ से जगत उसका संग्रह करे। यदि उसके माध्यम से धन-धान्यादि भोग-सामग्री प्राप्त न हो तो उसे कौन समेटे ? दश हजार का नोट अब बाजार में नहीं चलता तो अब उसे कौन चाहता है ? जगत की दृष्टि में उसकी कीमत तभी तक है जब तक वह धन-धान्यादि बाह्यपरिग्रहो की प्राप्ति का साधन है। साधन में साध्य का उपचार करके ही वह परिग्रह कहा जा सकता है, पर चौबीस परिग्रहों में नाम तक न होने पर भी आज यह पच्चीसवाँ परिग्रह ही सब कुछ बना हुआ है।

रुपये-पैसे को बाह्य परिग्रह में भी स्थान न देने का एक कारण यह भी रहा कि उसकी कीमत घटती-बढ़ती रहती है। रुपये-पैसे का जीवन में डायरेक्ट तो कोई उपयोग है नहीं, वह धन-धान्यादि जीवनोपयोगी वस्तुओं की प्राप्ति का साधन मात्र है। अणुव्रतो में परिग्रह का परिमाण जीवनोपयोगी वस्तुओं का ही किया जाता है। रुपये-पैसों की कीमत घटती-बढ़ती रहने से मात्र उसका परिमाण किये जाने पर परेशानी हो सकती है।

मान लीजिये एक व्यक्ति ने दश हजार का परिग्रह परिमाण किया। जब उसने यह परिमाण किया था तब उसके मकान की कीमत पाँच हजार रुपये थी, कालान्तर में उसी मकान की कीमत पचास हजार रुपये भी हो सकती है। इसीप्रकार धन-धान्यादि की भी स्थिति समझना चाहिए। अतः परिग्रह-परिमाणव्रत में धन-धान्यादि नित्योपयोगी वस्तुओं के परिमाण करने को कहा गया।

परिग्रह-परिमाणधारी को तो जीवनोपयोगी परिमित वस्तुओं की आवश्यकता है, चाहे उनकी कीमत कुछ भी क्यों न हो। परिग्रह परिमाणधारी घर में ही रहता है, अतः उसे सब चाहिये – धन-धान्य क्षेत्र-मकान, वर्तनादि। पर आज की स्थिति बदल गई है, क्योंकि कोई भी परिग्रह-परिमाणधारी घर में नहीं रहना चाहता। वह अपने को गृहस्थ नहीं, साधु समझता है; जबकि अणुव्रत गृहस्थो के होते हैं, साधुओं के नहीं। उसे बनाकर ही नहीं, कमाकर खाना चाहिए; पर वह कमा कर खाना तो बहुत दूर, बनाकर भी नहीं खाना चाहता है। वह अपने घर में नहीं, धर्मशालाओं में रहना है और अपना भार

आज आहार लेने लगे हैं। अन्यथा जिन्होंने अपनी कमाई के साधन सीमित कर लिए, उनके भी सम्पत्ति बढ़ते जाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

व्रतियों को महाव्रतियों का भार उठाना था, पर उन्होंने तो अपना भार अव्रतियों पर डाल दिया है। यही कारण है कि महाव्रतियों को अनुद्दिष्ट आहार मिलना बन्द हो गया है। क्योंकि अव्रती तो उतना शुद्ध भोजन करते ही नहीं कि वे मुनिराज के उद्देश्य के बिना बनाके उन्हें दे सकें। व्रती अवश्य ऐसा भोजन करते हैं कि वे अपने लिए बनाए गए भोजन को मुनिराजों को दे सकते हैं, पर वे तो लेने वाले हो गए।

जो कुछ भी हो, प्रकृत में तो मात्र यह विचारना है कि रुपये-पैसों को आगम में चौबीस परिग्रहों में पृथक् स्थान क्यों नहीं दिया ? वैसे वह धन में आ ही जाता है।

यदि रुपये-पैसे को ही परिग्रह मानें तो फिर देवों, नारकियों और तिर्यंचों में तो परिग्रह होगा ही नहीं, क्योंकि उनके पास तो रुपया-पैसा देखने में ही नहीं आता। उनमें तो मुद्रा का व्यवहार ही नहीं है, उन्हें इस व्यवहार का कोई प्रयोजन भी नहीं है; पर उनके परिग्रह का त्याग तो नहीं है।

इसीप्रकार धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहों को ही परिग्रह मानें तो फिर पशुओं को अपरिग्रही मानना होगा, क्योंकि उनके पास बाह्य परिग्रह देखने में नहीं आता। धन-धान्य, मकानादि संग्रह का व्यवहार तो मुख्यतः मनुष्य व्यवहार है। मनुष्यों में भी पुण्य का योग न होने पर धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह कम देखा जाता है तो क्या वे परिग्रह-त्यागी हो गये ? नहीं, कदापि नहीं।

जब आत्मा के धर्म और अधर्म की चर्चा चलती है तो उनकी परिभाषायें ऐसी होनी चाहिये कि वे सभी आत्माओं पर समान रूप से घटित हों। यही कारण है कि आचार्यों ने अन्तरंग परिग्रह के त्याग पर विशेष बल दिया है।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा है :-

बाहिरगंथविहीणा दलिद्दमणुवा सहावदो होंति।
अब्भंतर-गंथं पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं ॥३८७॥

बाह्य परिग्रह से रहित दरिद्री मनुष्य तो स्वभाव से ही होते हैं, किन्तु अन्तरंग परिग्रह को छोड़ने में कोई भी समर्थ नहीं होता।

'अष्टपाहुड़ (भावपाहुड़)' में सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं –

भावविशुद्धिणिमित्तं वाहिरगंथस्स कीरए चाश्रो ।
वाहिरचाश्रो विहलो श्रब्भंतरगंथजुत्तस्स ।।३।।

वाह्य परिग्रह का त्याग भावों की विशुद्धि के लिए किया जाता है, परन्तु रागादिभावरूप अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग बिना वाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है ।

वाह्य परिग्रह त्याग देने पर भी यह आवश्यक नहीं कि अन्तरंग परिग्रह भी छूट ही जायेगा । यह भी हो सकता है कि वाह्य में तिल-तुपमात्र भी परिग्रह न दिखाई दे, परन्तु अंतरंग में चौदहों परिग्रह विद्यमान हों । द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनियों के यही तो होता है । प्रथम गुणस्थान में होने से उनमें मिथ्यात्वादि सभी अंतरंग परिग्रह पाये जाते हैं, पर वाह्य में वे नग्न दिगम्वर होते हैं ।

'भगवती आराधना' में स्पष्ट लिखा हैं :–

अब्भंतरसोधीए गंथे णियमेण वाहिरे च यदि ।
अब्भंतरमइलो चेव वाहिरे गेण्हदि हु गंथे ।।१६१५।।
अब्भंतरसोधीए वाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि, णरो वाहिरे दोसे ।।१६१६।।

अंतरंग शुद्धि होनेपर वाह्य परिग्रह का नियम से त्याग होता है । अभ्यन्तर अशुद्ध परिणामों से ही वचन और शरीर से दोपों की उत्पत्ति होती है । अंतरंग शुद्धि होने से वहिरंग शुद्धि भी नियम से होती है । यदि अंतरंग परिणाम मलिन होंगे तो मनुष्य शरीर और वचनों से भी दोप उत्पन्न करेगा ।

वस्तुतः वात तो यह है कि धन-धान्यादि स्वयं में कोई परिग्रह नहीं हैं; बल्कि उनके ग्रहण का भाव, संग्रह का भाव – परिग्रह है । जब तक परपदार्थों के ग्रहण या संग्रह का भाव न हो तो मात्र परपदार्थों की उपस्थिति से परिग्रह नहीं होता; अन्यथा तीर्थंकरों के तेरहवें गुणस्थान में होनेपर भी देह व समोशरणादि विभूतियों का परिग्रह मानना होगा, जबकि अंतरंग परिग्रहों का सद्भाव दशवें गुणस्थान तक ही होता है ।

सभी वातों का ध्यान रखते हुए जिनागम में परिग्रह की परिभाषा इसप्रकार दी गई है :–

"मूर्च्छा परिग्रहः"[1]

मूर्च्छा परिग्रह है।

मूर्च्छा की परिभाषा आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार करते हैं :–

"मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः"[2]

ममत्व परिणाम ही मूर्च्छा है।

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में (गाथा २७८ की टीका में) आचार्य जयसेन ने लिखा है :–

"मूर्च्छा परिग्रह" इति सूत्रे यथाख्यातमानुसारेण मूर्च्छारूप-रागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति, न च बहिरंगपरिग्रहानुसारेण।"

मूर्च्छा परिग्रह है – इस सूत्र में यह कहा गया है कि अंतरंग इच्छारूप रागादि परिणामों के अनुसार परिग्रह होता है, बहिरंग परिग्रह के अनुसार नहीं।

आचार्य पूज्यपाद तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में लिखते हैं :–

"ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रहः"[3]

यह वस्तु मेरी है – इसप्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है।

परिग्रह की उपर्युक्त परिभाषा और स्पष्टीकरणों से परपदार्थ स्वयं में कोई परिग्रह नहीं है – यह स्पष्ट हो जाता है। परपदार्थों के प्रति जो हमारा ममत्व है, राग है – वास्तव में तो वही परिग्रह है। जब परपदार्थों के प्रति ममत्व छूटता है तो तदनुसार बाह्य परिग्रह भी नियम से छूटता ही है। किन्तु बाह्य परिग्रह के छूटने से ममत्व के छूटने का नियम नहीं है – क्योंकि पुण्य के अभाव और पाप के उदय में परपदार्थ तो अपने आप ही छूट जाते हैं, पर ममत्व नहीं छूटता; बल्कि कभी-कभी तो और अधिक बढ़ने लगता है।

परपदार्थ के छूटने से कोई अपरिग्रही नहीं होता; बल्कि उनके रखने का भाव, उनके प्रति एकत्वबुद्धि या ममत्व परिणाम छोड़ने से परिग्रह छूटता है – आत्मा अपरिग्रही अर्थात् आकिंचन्यधर्म का धनी बनता है।

---

[1] आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र अ० ७, सू० १७

[2] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द १११

[3] सर्वार्थसिद्धि, अ० ६, सू० २५

शरीरादि परपदार्थों और रागादि चिद्विकारों में एकत्वबुद्धि, अहंबुद्धि ही मिथ्यात्व नामक प्रथम अंतरंग परिग्रह है। जब तक यह नहीं छूटता तब तक अन्य परिग्रहों के छूटने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर इस मुग्ध जगत का इस ओर ध्यान ही नहीं है।

सारी दुनियाँ परिग्रह की चिन्ता में ही दिन-रात एक कर रही है, मर रही है। कुछ लोग परपदार्थों के जोड़ने में मग्न हैं, तो कुछ लोगों को धर्म के नाम पर उन्हें छोड़ने की धुन सवार है। यह कोई नहीं सोचता कि वे मेरे हैं ही नहीं; मेरे जोड़ने से जुड़ते नहीं और ऊपर-ऊपर से छोड़ने से छूटते भी नहीं। उनकी परिणति उनके अनुसार हो रही है, उसमें हमारे किए कुछ नहीं होता। यह आत्मा तो मात्र उन्हें जोड़ने या छोड़ने के विकल्प करता है, तदनुसार पाप-पुण्य का बंध भी करता रहता है।

पुण्य के उदय में अनुकूल परपदार्थों का विना मिलाये भी सहज संयोग होता है। इसीप्रकार पाप के उदय में प्रतिकूल परपदार्थों का संयोग होता रहता है। यद्यपि इसमें इसका कुछ भी वश नहीं चलता तथापि मिथ्यात्व और राग के कारण यह अज्ञानी जगत अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों-वियोगों में अहंबुद्धि, कर्त्तृत्वबुद्धि किया करता है। यही अहंबुद्धि, कर्त्तृत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि मिथ्यात्व नामक सबसे खतरनाक परिग्रह है। सबसे पहिले इसे छोड़ना जरूरी है।

जिसप्रकार वृक्ष के पत्तों के सींचने से पत्ते नहीं पनपते, वरन् जड़ को सींचने से पत्ते पनपते हैं; उसीप्रकार समस्त अंतरंग-वहिरंग परिग्रह मिथ्यात्वरूपी जड़ से पनपते हैं। यदि हम चाहते हैं कि पत्ते सूख जावें तो पत्तों को तोड़ने से कुछ नहीं होगा, नवीन पत्ते निकल आवेंगे; पर यदि जड़ ही काट दी जावे तो फिर समय पाकर पत्ते आपों-आप सूख जायेंगे। इसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी जड़ को काट देने पर बाकी के परिग्रह समय पाकर स्वतः छूटने लगेंगे।

जब यह बात कही जाती है तो लोग कहते हैं कि बस पर को अपना मानना नहीं है, छोड़ना तो कुछ है नहीं। यदि कुछ छोड़ना नहीं है तो फिर परिग्रह छूटेगा कैसे ?

अरे भाई ! छोड़ना क्यों नहीं है ? पर को अपना मानना छोड़ना है। जब पर को अपना मानना ही मिथ्यात्व नामक प्रथम परिग्रह है, तो इसे छोड़ने के लिए पर को अपना मानना ही छोड़ना होगा।

यद्यपि मानना छोड़ना (मत परिवर्तन) बहुत बड़ा त्याग है, काम है; तथापि इस जगत को इसमें कुछ छोड़ा – ऐसा लगता ही नहीं है। यदि दश-पाँच लाख रुपये छोड़े, स्त्री-पुत्रादि को छोड़े, तो कुछ छोड़ा-सा लगता है। पर इन्हीं रुपयों को, स्त्री-पुत्रादि को अपना मानना छोड़े तो कुछ छोड़ा-सा नहीं लगता। यह सब मिथ्यात्व नामक परिग्रह की ही महिमा है। उसी के कारण जगत को ऐसा लगता है।

अरे भाई ! यदि पर को अपना मानना छोड़े बिना उसे छोड़ भी दे, तो वह छूटेगा नहीं। पर को छोड़ने के लिए अथवा पर से छूटने के लिए सर्वप्रथम उसे अपना मानना छोड़ना होगा, तभी कालान्तर में वह छूटेगा। वह छूटेगा क्या, वह तो छूटा हुआ ही है। वस्तुतः यह जीव बलात् उसे अपना मान रहा है। अतः गहराई से विचार करें तो उसे अपना मानना ही छोड़ना है।

जगत के पदार्थ तो जगत में ही रहते हैं और रहेंगे – उन्हें क्या छोड़ें और कैसे छोड़ें ? उन्हें अपना मानना और ममत्व करना ही तो छोड़ना है।

देह को अपना मानना छोड़ने से, ममत्व छोड़ने से, उससे राग छूट जाने पर भी तत्काल देह छूट नहीं जाती; देह का परिग्रह छूट जाता है। देह तो समय पर अपने-आप छूटती है; पर देह में एकत्व और रागादि-त्यागी को फिर दुबारा देह धारण नहीं करनी पड़ती और जो लोग इससे एकत्व और राग नहीं छोड़ते हैं, उन्हें बार-बार देह धारण करनी पड़ती है।

यहाँ कोई कहे कि जिसप्रकार देह को नहीं, देह को अपना मानना छोड़ना है, देह से राग छोड़ना है, देह तो समय पर अपने-आप छूट जावेगी, उसीप्रकार हम मकान तो दश-दश रखें, पर उनमें ममत्व नहीं रखें, तो क्या मकान का परिग्रह नहीं होगा ? यदि हाँ, तो फिर हम मकान तो खूब रखेंगे, बस उनसे ममत्व नहीं रखेंगे।

उनसे कहते हैं कि भाई जरा विचार तो करो ! यदि तुम मकान से ममत्व नहीं रखोगे तो मिथ्यात्व नामक अन्तरंग परिग्रह छूटेगा, मकान (वास्तु) नामक बहिरंग परिग्रह नहीं। क्योंकि मकानादिरूप बाह्य परिग्रह तो अप्रत्याख्यान सम्बन्धी राग (लोभादि) रूप अन्तरंग परिग्रह के छूटने पर छूटता है एवं अप्रत्याख्यान सम्बन्धी राग (लोभादि) रूप अन्तरंग परिग्रह छूटने पर मकानादि बाह्य परिग्रह

परिमित होते हैं। इसप्रकार उसे अपना मानना छोड़ने मात्र से बाह्य परिग्रह नहीं छूटता, अपितु तत्सम्बन्धी राग छूटने से छूटता है।

देह और मकान की स्थिति में अन्तर है। देह से तो राग छूट जाने पर भी देह नहीं छूटती, पर मकान से राग छूट जाने पर मकान अवश्य ही छूट जाता है। पूर्ण वीतरागीसर्वज्ञ भी तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में सदेह होते हैं, पर मकानादि बाह्य पदार्थों का संयोग छठवें-सातवें गुणस्थान में भी नहीं होता।

जैनदर्शन का अपरिग्रह सिद्धान्त समझने के लिए गहराई में जाना होगा। ऊपर-ऊपर से विचार करने से काम नहीं चलेगा।

निश्चय से तो मकानादि छूटे ही हैं। अज्ञानी जीव ने उन्हें अपना मान रखा है, वे उसके हुए ही कब हैं? यह अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण स्वयं को उनका स्वामी मानता है, पर उन्होंने इसके स्वामित्व को स्वीकार ही कहाँ किया? उन्होंने इसे अपना स्वामी कब माना?

यह जीव बड़े अभिमान से कहता है कि मैंने यह मकान पच्चीस हजार में निकाल दिया। पर विचार तो करो कि इसने मकान को निकाला है या मकान ने इसे? मकान तो अभी भी अपने स्थान पर ही खड़ा है। स्थान तो इसी ने बदला है।

मकानादि परपदार्थों को अपना मानना मिथ्यात्व नामक अंतरंग परिग्रह है, और उनसे रागद्वेषादि करना – क्रोधादिरूप अन्तरंग परिग्रह हैं; मकानादि बहिरंग परिग्रह हैं। परपदार्थों को मात्र अपना मानना छोड़ने से बहिरंग परिग्रह नहीं छूटता, अपितु उन्हें अपना मानने के साथ उनसे रागादि छोड़ने से छूटता है।

पर इसी परिग्रही वणिक समाज ने अपरिग्रही जिनधर्म में भी रास्ते निकाल लिये हैं। जिसप्रकार समस्त धन का मालिक एवं नियामक स्वयं होने पर भी राज्य के नियमों से बचने के लिए आज इसके द्वारा अनेक रास्ते निकाल लिये गये हैं – दूसरे व्यक्ति के नाम सम्पत्ति बनाना, नकली संस्थाएँ खड़ी कर लेना आदि। उसीप्रकार धर्मक्षेत्र में भी यह सब दिखाई दे रहा है – शरीर पर तन्तु भी न रखने वाले नग्न दिगम्बरों को जब अनेक संस्थाओं, मन्दिरों, मठों, धर्मों आदि का परिग्रहवत् सक्रिय संचालन करते देखते हैं तो शर्म से माथा झुक जाता है।

जब साक्षात् देखते हैं कि उनकी मर्जी के बिना बस एक कदम भी नहीं चल सकती तब कैसे समझ में आवे कि इससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। लौट-फिर कर बात वहीं आ जाती है कि अन्तरंग परिग्रह त्यागे बिना यदि बाह्य परिग्रह छोड़ा जाएगा तो यही सब कुछ होगा, क्योंकि अन्तरंग परिग्रह के त्याग के बिना बहिरंग परिग्रह का भी वास्तविक त्याग नहीं हो सकता। फिर भी शास्त्रों में नववें ग्रैवेयक तक जाने वाले जिन द्रव्यलिंगी-मिथ्यादृष्टि मुनिराजों की चर्चा है, उनके तो तिल-तुषमात्र बाह्य परिग्रह और उससे लगाव देखने में नहीं आता। अन्तर्दृष्टि बिना उनके द्रव्यलिंगत्व का पता लगाना असंभव-सा ही है।

मिथ्यात्वादि अन्तरंग परिग्रह के त्याग पर बल देने का आशय यह नहीं है कि बहिरंग परिग्रह के त्याग की कोई आवश्यकता नहीं है या उसका कोई महत्त्व नहीं है। अंतरंग परिग्रह के त्याग के साथ-साथ बहिरंग परिग्रह का त्याग भी नियम से होता है, उसकी भी अपनी उपयोगिता है, महत्त्व भी है; पर यह जगत बाह्य में ही इतना उलझा रहता है कि उसे अन्तरंग की कोई खबर ही नहीं रहती। इस कारण यहाँ अन्तरंग परिग्रह की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया गया है।

जिसके भूमिकानुसार बाह्य परिग्रह का त्याग नहीं है, उसके अन्तरंग परिग्रह के त्याग की बात भी कोरी कल्पना है। यदि कोई कहे कि हमने तो अंतरंग परिग्रह का त्याग कर दिया है, अब बहिरंग बना रहे तो क्या ? तो उसका यह कहना एक प्रकार से छल है, क्योंकि अन्तरंग में राग के त्याग होने पर तदनुसार बाह्य परिग्रह के संयोग का त्याग भी अनिवार्य है। यह नहीं हो सकता कि अन्तरंग में मिथ्यात्व; अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान एवं प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ का अभाव हो जावे और बाहर में नग्न दिगम्बर दशा न हो। उक्त अन्तरंग परिग्रहों के अभाव में बाह्य में सर्व परिग्रह के त्यागरूप नग्न दिगम्बर दशा होगी ही।

आकिंचन्यधर्म का धारी अकिंचन्य बनने के लिए सबसे प्रथम आकिंचन्यधर्म का वास्तविक स्वरूप जानना होगा, मानना होगा, समस्त परपदार्थों से भिन्न निजात्मा का अनुभव करना होगा। तत्पश्चात् अन्तरंग परिग्रहरूप कषायों के अभावपूर्वक तदनुसार बाह्य परिग्रह का भी बुद्धिपूर्वक, विकल्पपूर्वक त्याग करना होगा।

कहता है तुम्हें औरों से क्या, तुम तो अपनी इच्छाओं को त्यागो अथवा सीमित करो।

समाजवादी दृष्टिकोण में परिग्रह को सीमित करने की बात तो कुछ बैठ भी सकती है, पर परिग्रह-त्याग की बात कैसे बैठेगी ? क्या कोई समाजवादी यह भी चाहता है कि सम्पूर्ण परिग्रह त्याग दिया जाय और सभी नग्न दिगम्बर हो जायें ? नहीं, कदापि नहीं। पर अपरिग्रह तो पूर्णतः त्याग का ही नाम है, सीमित परिग्रह रखने को परिग्रह-परिमाण कहा जाता है, अपरिग्रह नहीं।

यहाँ जिस आकिंचन्यधर्मरूप अपरिग्रह की बात चल रही है, वह तो नग्न दिगम्बर मुनिराजों के ही होता है। यदि सबके पास मोटर-कार हो जायगी तो क्या नग्न दिगम्बर मुनिराज को मोटर-कार में बैठने में आपत्ति नहीं होगी ? यदि समाजवाद ही अपरिग्रह है तो फिर मुनिराज को भी कार रखने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अथवा रेल, मोटर, बस आदि जो सवारी जनसाधारण को आज भी उपलब्ध हैं उनमें भी अपरिग्रही मुनिराज क्यों नहीं बैठते हैं ? इससे स्पष्ट है कि समाजवाद से अपरिग्रह का दृष्टिकोण एकदम भिन्न है।

अपरिग्रह का उत्कृष्ट रूप नग्न दिगम्बर दशा है जो कि समाजवाद का आदर्श कभी नहीं हो सकता। समाजवाद की समस्या भोग-सामग्री के समान वितरण की है और अपरिग्रह का अन्तिम उद्देश्य भोग-सामग्री और भोग के भाव का भी पूर्णतः त्याग है।

यहाँ समाजवाद के विरोध या समर्थन की बात नहीं कही जा रही है, अपितु अपरिग्रह और समाजवाद के दृष्टिकोण में मूलभूत अन्तर क्या है – यह स्पष्ट किया जा रहा है।

समाजवाद में क्रोधादिरूप अन्तरंग परिग्रह और धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह के पूर्णतः त्याग के लिए भी कोई स्थान नहीं है, जबकि अपरिग्रह में उक्त दोनों बातें ही मुख्य हैं। अतः यह निश्चिन्त होकर कहा जा सकता है कि समाजवाद को ही अपरिग्रह कहने वाले समाजवाद का सही स्वरूप समझते हों या नहीं; पर अपरिग्रह का स्वरूप उनकी दृष्टि में निश्चितरूप से नहीं है।

यद्यपि परिग्रह सबसे बड़ा पाप है, जैसाकि पहले सिद्ध किया जा चुका है; तथापि जगत में जिनके पास अधिक बाह्य परिग्रह देखने में

शास्त्रों में भी कहीं-कहीं उसे

पुण्यात्मा कह दिया गया है। भाग्यशाली तो उसे सारी दुनियाँ कहती ही है।

हिंसक को कोई पुण्यात्मा नहीं कहता, असत्यवादी और चोर भी पापी ही कहे जाते हैं। इसीप्रकार व्यभिचारी भी जगत की दृष्टि में पापी ही गिना जाता है। *जब उक्त चारों पापों के कर्त्ता पापी माने* जाते हैं, तब न जाने परिग्रही को पुण्यात्मा, भाग्यशाली क्यों कहा जाता है? कुछ लोग तो उन्हें धर्मात्मा तक कह देते हैं। धर्मात्मा ही क्यों, न जाने क्या-क्या कह देते हैं? तभी तो भर्तृहरि को लिखना पड़ा :–

> यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
> स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
> स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
> सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥४१॥[1]

जिसके पास धन है – वही कुलीन (अच्छे कुल में उत्पन्न) है, वही विद्वान है, वही शास्त्रज्ञ है, वही गुणों का जानकार है, वही वक्ता है, और वही दर्शनीय भी है; क्योंकि सब गुण स्वर्ण (धन) में ही आश्रय प्राप्त करते हैं।

तो क्या परिग्रही को पुण्यात्मा अकारण कहा जाता है? ऊपर से तो ऐसा ही लगता है, पर गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि इसका भी कारण है और वह यह है कि हिंसादिपाप – कारण, स्वरूप एवं फल – तीनों ही रूप में पापस्वरूप ही हैं; क्योंकि उनके कारण भी पापभाव हैं, वे पापभावस्वरूप तो हैं ही, तथा उनका फल भी पाप का बंध ही है। किन्तु परिग्रह में विशेषकर बाह्य परिग्रह के दृष्टिकोण से देखने पर इनमें अन्तर आ जाता है। बाह्य-विभूतिरूप परिग्रह का कारण पुण्योदय है, पर है वह पापस्वरूप ही; फिर भी यदि उसे भोग में लिया जाय तो पापबंध का कारण बनता है, किन्तु यदि शुभभावपूर्वक शुभकार्य में लगा दिया जाय तो पुण्यबंध का कारण बन जाता है। कहा भी है :–

'बहुधन बुरा हू, भला कहिए लीन पर-उपगार सों'।[2]

---

[1] नीतिशतक, छन्द ४१

[2] दशलक्षण पूजन, आकिंचन्यधर्म का छन्द

इसप्रकार बाह्यपरिग्रह का – कारण पुण्य, स्वरूप पाप, और फल अशुभ में लगने पर पाप व शुभ में लगने पर पुण्य हुआ।

यहाँ कोई कहे कि यदि यह बात है तो परिग्रह को पाप कहा ही क्यों है ?

वह भले ही पुण्योदय से प्राप्त होता है, पर है तो पाप ही। वह ऐसा वृक्ष है जिसमें बीज पड़ा था पुण्य का, वृक्ष उगा पाप का, और फल लगे ऐसे कि खावे तो मरे अर्थात् पाप बंधे और त्यागे तो जीवे अर्थात् पुण्य बांधे। यह विविधता इसके स्वभाव में ही पड़ी है। यही कारण है कि सबसे बड़ा पाप होने पर भी जगत में परिग्रही को पुण्यात्मा कह दिया जाता है।

वस्तुतः बात तो ऐसी है कि पाप के उदय से कोई पापी और पुण्य के उदय से कोई पुण्यात्मा नहीं होता, परन्तु पापभाव करे सो पापी, पुण्यभाव करे सो पुण्यात्मा, और धर्मभाव करे सो धर्मात्मा होता है। अन्यथा पूर्ण धर्मात्मा भावलिंगी मुनिराजों को भी पापी मानना होगा, क्योंकि उनके भी पाप का उदय आ जाता है, उससे उन्हें अनेक उपसर्ग एवं कुष्टादि व्याधियाँ हो जाती हैं; पर वे पापी नहीं हो जाते, धर्मभाव के धनी होने से धर्मात्मा ही रहते हैं। इसी प्रकार किसी वेश्या या डाकू के पास बहुत धनादि हो जाने से वे पुण्यात्मा नहीं हो जाते, पापी ही रहते हैं।

जगत कुछ भी कहे पर सब पापों की जड़ होने से परिग्रह सबसे बड़ा पाप है और सर्व कषायों और मिथ्यात्व के अभावरूप होने से आकिंचन्य सबसे बड़ा धर्म है।

इस उत्तम आकिंचन्यधर्म को धारण कर सभी प्राणी पूर्ण सुख को प्राप्त करें, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

# उत्तमब्रह्मचर्य

ब्रह्म अर्थात् निजशुद्धात्मा मे चरना, रमना ही ब्रह्मचर्य है। जैसाकि 'अनगार धर्मामृत' में कहा है :–

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचप्रवृत्तिः ।
तद् ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम् ॥४/६०॥

परद्रव्यो से रहित शुद्ध-बुद्ध अपने आत्मा में जो चर्या अर्थात् लीनता होती है, उसे ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। व्रतों मे सर्वश्रेष्ठ इस ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करते हैं, वे अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करते हैं।

इसीप्रकार का भाव 'भगवती आराधना'[1] एवं 'पद्मनंदि-पंचविंशतिका'[2] में भी प्रकट किया गया है।

यद्यपि निजात्मा मे लीनता ही ब्रह्मचर्य है; तथापि जब तक हम अपने आत्मा को जानेंगे नहीं, मानेंगे नहीं, तब तक उसमे लीनता कैसे सम्भव है ? इसलिए कहा गया है कि आत्मलीनता अर्थात् सम्यक्-चारित्र आत्मज्ञान एवं आत्मश्रद्धानपूर्वक ही होता है। ब्रह्मचर्य के साथ लगा उत्तम शब्द भी यही ज्ञान कराता है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान सहित आत्मलीनता ही उत्तमब्रह्मचर्य है।

अतः यह स्पष्ट है कि निश्चय से ज्ञानानंदस्वभावी निजात्मा को ही निज मानना, जानना और उसी में जम जाना, रम जाना, लीन हो जाना ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

---

[1] जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरियाहविज्ज जा जदिणो।
न जाण बंभचेर विमुक्कपरदेहतित्तिस ॥८७८॥
जीव ब्रह्म है, देह की सेवा से विरक्त होकर जीव में ही जो चर्या होती है उसे ब्रह्मचर्य जानो।

[2] आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परं।
स्वाङ्गासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः ॥
ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर से निर्ममत्व हो रहा, उसी के वास्तविक ब्रह्मचर्य होता है।

आज जो ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ समझा जाता है वह अत्यन्त स्थूल है। आज मात्र स्पर्शन इन्द्रिय के विषय-सेवन के त्यागरूप व्यवहार ब्रह्मचर्य को ही ब्रह्मचर्य माना जाता है। स्पर्शन इन्द्रिय के भी संपूर्ण विषयों के त्याग को नहीं, मात्र एक क्रियाविशेष (मैथुन) के त्याग को ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है, जबकि स्पर्शन इन्द्रिय का भोग तो अनेक प्रकार से संभव है।

स्पर्शन इन्द्रिय के विषय आठ हैं :–

१. ठंडा, २. गरम, ३. कड़ा, ४. नरम, ५. सूखा, ६. चिकना, ७. हलका, और ८. भारी।

इन आठों ही विषयों में आनंद अनुभव करना स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों का ही सेवन है। गर्मियों के दिनों में कूलर एवं सर्दियों में हीटर का आनंद लेना स्पर्शन इन्द्रिय का ही भोग है। इसीप्रकार डनलप के नरम गद्दों और कठोर आसनों के प्रयोग में आनंद अनुभव करना तथा रूखे-चिकने व हल्के-भारी स्पर्शों में सुखानुभूति – यह सब स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय हैं। पर अपने को ब्रह्मचारी मानने वालों ने कभी इस ओर भी ध्यान दिया है कि ये सब स्पर्शन इन्द्रिय के विषय हैं, हमें इनमें भी सुखबुद्धि त्यागनी होगी। इनसे भी विरत होना चाहिये।

इससे यह सिद्ध होता है कि हम स्पर्शन इन्द्रिय के भी सम्पूर्ण भोग को ब्रह्मचर्य का घातक नहीं मानते, अपितु एक क्रियाविशेष (मैथुन) को ही ब्रह्मचर्य का घातक मानते हैं; और जैसे-तैसे मात्र उससे बच कर अपने को ब्रह्मचारी मान लेते हैं।

यदि आत्मलीनता का नाम ब्रह्मचर्य है तो क्या स्पर्शन इन्द्रिय के विषय ही आत्मलीनता में बाधक हैं, अन्य चार इन्द्रियों के विषय क्या आत्मलीनता में बाधक नहीं हैं ? यदि हैं, तो उनके भी त्याग को ब्रह्मचर्य कहा जाना चाहिये। क्या रसना इन्द्रिय के स्वाद लेते समय आत्मस्वाद लिया जा सकता है ? इसीप्रकार क्या सिनेमा देखते समय आत्मा देखा जा सकता है ? नहीं, कदापि नहीं।

आत्मा किसी भी इन्द्रिय के विषय में क्यों न उलझा हो, उस समय आत्मलीनता संभव नहीं है। जबतक पाँचों इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं रुकेगी तब तक आत्मलीनता नहीं होगी और जब तक आत्मलीनता नहीं होगी तब तक पंचेन्द्रियों के विषयों से प्रवृत्ति का रुकना भी संभव नहीं है।

इसप्रकार पंचेन्द्रिय के विषयों से प्रवृत्ति की निवृत्ति यदि नास्ति से ब्रह्मचर्य है तो आत्मलीनता अस्ति से।

यदि कोई कहे कि शास्त्रों में भी तो कामभोग के त्याग को ही ब्रह्मचर्य लिखा है। हम भी ऐसा ही मानते हैं, इसमें हमारी भूल क्या है?

सुनो! शास्त्रों मे कामभोग के त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है, सो ठीक ही कहा है। पर कामभोग का अर्थ केवल स्पर्शन-इन्द्रिय का ही भोग लेना—यह कहाँ कहा? समयसार की चौथी गाथा की टीका करते हुए आचार्य जयसेन ने स्पर्शन और रसना इन्द्रियो के विषयो को माना है काम; और घ्राण, चक्षु, कर्ण इन्द्रिय के विषयो को माना है भोग। इसप्रकार उन्होंने काम और भोग मे पचेन्द्रिय विषयो को ले लिया है। पर हम इस अर्थ को कहाँ मानते हैं! हमने तो काम और भोग को एकार्थवाची मान लिया है और उसका भी अर्थ एक क्रिया-विशेष (मैथुन) मे संवधित कर दिया है। मात्र एक क्रियाविशेष को छोड़कर पाँचो इन्द्रियों के विषयों को भरपूर भोगते हुये भी अपने को ब्रह्मचारी मान बैठे हैं।

जब आचार्यों ने काम और भोग के विरुद्ध आवाज लगाई तो उनका आशय पाँचों इन्द्रियो के विषयों के त्याग से था, न कि मात्र मैथुनक्रिया के त्याग से। आज भी जब किसी को ब्रह्मचर्यव्रत दिया जाता है तो साथ मे पाँचों पापों से निवृत्ति कराई जाती है, सादा खान-पान, सादा रहन-सहन रखने की प्रेरणा दी जाती है, सर्व प्रकार के शृंगारों का त्याग कराया जाता है। अभक्ष्य एव गरिष्ठ भोजन का त्याग आदि बातें पचेन्द्रियो के विषयों के त्याग की ओर ही संकेत करती हैं।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र मे ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाओं और अतिचारों की चर्चा करते हुए लिखा है :—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥ अध्याय ७, सूत्र ७।

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ अध्याय ७, सूत्र २८।

इसमें श्रवण, निरीक्षण, स्मरण, रसस्वाद, शृंगार, अनंग क्रीड़ा आदि को ब्रह्मचर्य का घातक कहा गया है।

यदि हम पंचेन्द्रिय के विषयों में निर्बाध प्रवृत्ति करते रहें और मात्र स्त्री-संसर्ग का त्याग कर अपने को ब्रह्मचारी मान बैठें तो यह एक भ्रम ही है। तथा यदि स्त्री-संसर्ग के साथ-साथ पंचेन्द्रिय के विषयों को भी बाह्य से छोड़ दें, गरिष्ठादि भोजन भी न करें; फिर भी यदि आत्मलीनतारूप ब्रह्मचर्य अन्तर में प्रकट नहीं हुआ तो भी हम सच्चे ब्रह्मचारी नहीं हो पावेंगे। अतः आत्मलीनतापूर्वक पंचेन्द्रिय के विषयों का त्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

यद्यपि शास्त्रों में आचार्यों ने भी ब्रह्मचर्य की चर्चा करते हुए स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय-त्याग पर ही अधिक बल दिया है, कहीं-कहीं तो रसनादि इन्द्रियों के विषयों के त्याग की चर्चा तक नहीं की है; तथापि उसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उन्होंने रसनादि चार इन्द्रियों के विषयों के सेवन को ब्रह्मचर्य का घातक नहीं माना, उनके सेवन की छूट दे रखी है। जब वे स्पर्शन-इन्द्रिय को जीतने की बात करते हैं तो उनका आशय पाँचों इन्द्रियों के विषयों के त्याग से ही रहता है, क्योंकि स्पर्शन में पाँचों इन्द्रियाँ गर्भित हैं। आखिर नाक, कान, आँखें शरीररूप स्पर्शनेन्द्रिय के ही तो अंग हैं। स्पर्शन-इन्द्रिय सारा ही शरीर है, जबकि शेष चार इन्द्रियाँ उसके ही अंश (Parts) हैं। स्पर्शन इन्द्रिय व्यापक है, शेष चार इन्द्रियाँ व्याप्य हैं।

जैसे भारत कहने में राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र आदि सारे प्रदेश आ जाते हैं, पर राजस्थान कहने में पूरा भारत नहीं आता; उसीप्रकार शरीर कहने में आँख, कान, नाक आ जाते हैं, आँख-कान कहने में पूरा शरीर नहीं आता।

इसप्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय का क्षेत्र विस्तृत और अन्य इन्द्रियों का संकुचित है।

जिसप्रकार भारत को जीत लेने पर सभी प्रान्त जीत लिये गये— ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं, पर राजस्थान को जीतने पर सारा भारत जीत लिया—ऐसा नहीं माना जा सकता है; उसीप्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय को जीत लेने पर सभी इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं, पर रसनादि के जीतने पर स्पर्शन-इन्द्रिय जीत ली गयी—ऐसा नहीं माना जा सकता।

अतः यह कहना अनुचित नहीं कि स्पर्शन-इन्द्रिय को जीतने वाला ब्रह्मचारी है, पर उक्त कथन का आशय पंचेन्द्रियों को जीतने से

यदि कर्ण-इन्द्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहते तो फिर चार-इन्द्रिय जीवों को ब्रह्मचारी मानना पड़ता, क्योंकि उनके कर्ण है ही नहीं, तो कर्ण के विषय का सेवन कैसे संभव है ? इसीप्रकार चक्षु-इन्द्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर तीन-इन्द्रिय जीवों को, घ्राण के विषयाभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर दो-इन्द्रिय जीवों को, रसना के विषयाभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर एकेन्द्रिय जीवों को ब्रह्मचारी मानने का प्रसंग प्राप्त होता है; क्योंकि उनके उक्त इन्द्रियों का अभाव होने से उनका विषयसेवन सम्भव नहीं है।

इसी क्रम में यदि कहा जाय कि इसप्रकार तो फिर यदि स्पर्शन-इन्द्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य मानने पर स्पर्शन-इन्द्रियरहित जीवों को ब्रह्मचारी मानना होगा – तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि स्पर्शन-इन्द्रिय से रहित सिद्ध भगवान ही हैं और वे पूर्ण ब्रह्मचारी हैं ही। संसारी जीवों में तो कोई ऐसा है नहीं, जो स्पर्शन-इन्द्रिय से रहित हो।

इसप्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय के विषयत्याग को ब्रह्मचर्य कहने में कोई दोष नहीं आता।

इसीप्रकार मात्र क्रियाविशेष (मैथुन) के अभाव को ही ब्रह्मचर्य मानें तो फिर पृथ्वी, जलकायादि जीवों को भी ब्रह्मचारी मानना होगा, क्योंकि उनके मैथुनक्रिया देखने में नहीं आती।

यदि आप कहें कि एकेन्द्रियादि जीवों को ब्रह्मचारी मानने में क्या आपत्ति है ?

यही कि उनके आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य नहीं है, आत्मरमणतारूप ब्रह्मचर्य संज्ञी पंचेन्द्रिय के ही होता है, तथा एकेन्द्रियादि जीवों के मोक्ष भी मानना पड़ता, क्योंकि ब्रह्मचर्यधर्म को पूर्णतः धारण करने वाले मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करते ही हैं।

कहा भी है :–

'द्यानत धरम दश पैड़ चढ़िके, शिवमहल में पग धरा।'

द्यानतरायजी कहते हैं कि दशधर्मरूपी पैड़ियों (सीढ़ियों) पर चढ़कर शिवमहल में पहुँचते हैं। दशधर्मरूपी सीढ़ियों में दसवीं सीढ़ी है ब्रह्मचर्य, उसके बाद तो मोक्ष ही है।

चार इन्द्रियाँ हैं खण्ड-खण्ड, और स्पर्शन-इन्द्रिय है अखण्ड; क्योंकि आत्मा के प्रदेशों का आकार एवं स्पर्शन-इन्द्रिय का आकार

बराबर एवं एक-सा है, जबकि अन्य इन्द्रियों के साथ ऐसा नहीं है। अखण्ड पद की प्राप्ति के लिए अखण्ड इन्द्रिय को जीतना आवश्यक है।

जितने क्षेत्र का स्वामित्व या प्रतिनिधित्व प्राप्त करना हो उतने क्षेत्र को जीतना होगा; ऐसा नहीं हो सकता कि हम जीतें राजस्थान को और स्वामी बन जायें पूरे हिन्दुस्तान के। हम चुनाव लड़ें नगरनिगम का और बन जायें भारत के प्रधानमंत्री। भारत का प्रधानमंत्री बनना है तो लोकसभा का चुनाव लड़ना होगा और समस्त भारत में से चुने हुए प्रतिनिधियों का बहुमत प्राप्त करना होगा। उसीप्रकार ऐसा नहीं हो सकता हम जीतें खण्ड इन्द्रियों को और प्राप्त कर लें अखण्ड पद को। अखण्ड पद को प्राप्त करने के लिये जिसमें पाँचों ही इन्द्रियाँ गर्भित हैं ऐसी अखण्ड स्पर्शन-इन्द्रिय को जीतना होगा।

यही कारण है कि आचार्यों ने प्रमुखरूप से स्पर्शन-इन्द्रिय के जीतने को ब्रह्मचर्य कहा है।

रसनादि चार इन्द्रियाँ न हों तो भी सांसारिक जीवन चल सकता है, पर स्पर्शन-इन्द्रिय के बिना नहीं। आँखें फूटी हों, कान से कुछ सुनाई नहीं पड़ता हो, तो भी जीवन चलने में कोई बाधा नहीं; पर स्पर्शन-इन्द्रिय के बिना तो सांसारिक जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं है।

आँख-कान-नाक के विषयों का सेवन तो कभी-कभी होता है, पर स्पर्शन का तो सदा चालू ही है। बदबू आवे तो नाक बन्द की जा सकती है, तेज आवाज में कान भी बन्द किये जा सकते हैं। आँख का भी बन्द करना सम्भव है। इसप्रकार आँख, नाक, कान बन्द किये जा सकते हैं, पर स्पर्शन का क्या बन्द करें? वह तो सर्दी-गर्मी, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम का अनुभव किया ही करती है।

रसना का आनन्द खाते समय ही आता है। इसीप्रकार घ्राण का सूंघते समय, चक्षु का देखते समय तथा कर्ण का मधुर वाणी सुनते समय ही भोग होता है; पर स्पर्शन का विषय तो चालू ही है।

अतः स्पर्शन-इन्द्रिय क्षेत्र से तो अखण्ड है ही, काल से भी अखण्ड है। शेष चार इन्द्रियाँ न क्षेत्र से अखण्ड हैं, न काल से।

पाँचों इन्द्रियों के कालसंबंधी खण्डपने एवं स्पर्शन के अखण्डपने [illegible] है। यह सब कि स्पर्शन-इन्द्रिय का नाम तो

अनादि से लेकर आजतक अखण्डपने है, कभी भी उसका साथ छूटा नहीं। कभी ऐसा नहीं हुआ कि आत्मा के साथ संसारदशा में स्पर्शन-इन्द्रिय न रहे। पर शेष चार इन्द्रियाँ अनादि की तो हैं ही नहीं, क्योंकि निगोद में थी ही नहीं। जब से उनका संयोग हुआ है, छूट भी अनेक बार गयी हैं। ये आनी-जानी हैं; आती हैं, चली जाती हैं, फिर आ जाती हैं। इनसे छूटना न तो कठिन है, और न लाभदायक ही, पर स्पर्शन-इन्द्रिय का छूटना जितना कठिन है, उससे अधिक लाभदायक भी। क्योंकि इसके छूट जाने पर जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह एक बार पूर्णत: छूट जावे तो दुबारा इसका संयोग नहीं होता।

चार इन्द्रियों की गुलामी तो कभी-कभी ही करनी पड़ी है, पर इस स्पर्शन के गुलाम तो हम सब अनादि से हैं। इसकी गुलामी छूटे बिना, गुलामी छूटती ही नहीं।

जब तक स्पर्शन-इन्द्रियों के विषय को जीतेंगे नहीं तब तक हम पूर्ण सुखी, पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हो सकेंगे। इस स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय को अपना महान शत्रु, त्रैकालिक शत्रु, सार्वभौमिक शत्रु जानकर ही आचार्यों ने इसके विषय-त्याग को ब्रह्मचर्य घोषित किया है। पर इसका आशय यह कदापि नहीं कि हम चार इन्द्रियों के विषयों को भोगते हुए सुखी हो जावेंगे। क्योंकि मर्म की बात तो यह है कि जब तक यह आत्मा आत्मा में लीन नहीं होगा, किसी न किसी इन्द्रिय का विषय चलता ही रहेगा और जब यह आत्मा आत्मा में लीन हो जावेगा तो किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं रहेगा।

अत: यह निश्चित हुआ कि पंचेन्द्रिय के विषयों के त्यागपूर्वक हुई आत्मलीनता ही ब्रह्मचर्य है।

पंचेन्द्रिय के विषय के भोगों के त्याग की बात तो यह जगत आसानी से स्वीकार कर लेता है, किन्तु जब यह कहा जाता है कि पंचेन्द्रिय के माध्यम से जानना-देखना भी आत्म-रमणतारूप ब्रह्मचर्य में साधक नहीं, बाधक ही है, तो सहज स्वीकार नहीं करता। उसे लगता है कि कहीं ज्ञान (इन्द्रियज्ञान) भी ब्रह्मचर्य में बाधक हो सकता है? पर वह यह विचार नहीं करता कि आत्मा तो अतीन्द्रिय महा-पदार्थ है, वह इन्द्रियों के माध्यम से कैसे जाना जा सकता है? स्पर्शन-इन्द्रिय के माध्यम से तो स्पर्शज्ञान पुद्गल पकड़ने में आता है, आत्मा

तो स्पर्शगुण से रहित है। इसीप्रकार रसना का विषय तो है रस और आत्मा है अरस, घ्राण का विषय तो है गंध और आत्मा है अगंध, चक्षु का विषय है रूप और आत्मा है अरूपी, कर्ण का विषय है शब्द और आत्मा है शब्दातीत, मन का विषय है विकल्प और आत्मा है विकल्पातीत – इसप्रकार सभी इन्द्रियाँ और अनिंद्रिय (मन) तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, एवं विकल्प के ग्राहक हैं और आत्मा अस्पर्शी, अरस, अगंध, अरूपी एवं शब्दातीत, विकल्पातीत है।

अतः इन्द्रियातीत-विकल्पातीत आत्मा को पकड़ने में, जकड़ने में इन्द्रियाँ और मन अनुपयोगी ही नहीं, वरन् बाधक हैं, घातक हैं, क्योंकि जब तक यह आत्मा इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से ही जानता-देखता रहेगा तब तक आत्मदर्शन नहीं होगा। जब आत्मदर्शन ही न होगा तब आत्मलीनता का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी है और आत्मा अन्तरोन्मुखी वृत्ति से पकड़ने में आता है।

कविवर द्यानतरायजी ने दशलक्षण पूजन में भी कहा है :–

'ब्रह्मभाव अन्तर लखो'।

ब्रह्मस्वरूप आत्मा को देखना है तो अन्तर में देखो। आत्मा अन्तर में झांकने से दिखाई देती है, क्योंकि वह है भी अन्तर में ही।

इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी है – क्योंकि वे अपने को नहीं, पर को जानने-देखने में निमित्त हैं। सभी इन्द्रियों के दरवाजे बाहर को ही खुलते हैं, अन्दर को नहीं। आँख से आँख दिखाई नहीं देती, आँख के भीतर क्या है यह भी दिखाई नहीं देता, पर बाहर क्या है यह दिखाई देता है। इसीप्रकार रसना भी अन्दर का स्वाद नहीं लेती, वरन् बाहर से आने वाले पदार्थों को चखती है। घ्राण भी क्या भीतर की दुर्गंध सूंघ पाती है? जब वही दुर्गंध किसी रास्ते से निकल कर नाक में बाहर से टकराती है, तब नाक उसे ग्रहण कर पाती है। कान भी बाहर की ही सुनते हैं। स्पर्शन भी मात्र बाहर की सर्दी-गर्मी आदि के प्रति सतर्क दिखाई देती है। इसप्रकार पाँचों ही इन्द्रियाँ बहिर्मुख वृत्तिवाली हैं।

बहिर्मुखी वृत्तिवाली एवं स्पर्शादि की ग्राहक इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी [illegible] एवं अरस, अरूपी आत्मा को जानने में सहायक

कैसे हो सकती है ? यही कारण है कि इन्द्रियभोगों के समान ही इन्द्रियज्ञान भी ब्रह्मचर्य में साधक नही, बाधक ही है ।

लोग कहते हैं – 'झूठा है संसार, आँख खोलकर देखो' ।

पर मैं तो यह कहना चाहता हूँ – 'सांचा है आत्मा, आँख बन्द करके देखो' ।

आत्मा आँखें खोलकर देखने की वस्तु नही, अपितु बंद करके देखने की चीज है । आँखों में ही क्या, पाँचों इन्द्रियों से उपयोग हटा कर अपने मे ले जाने से आत्मा दिखाई देता है ।

फिर भी जब इन्द्रिय के भोगों के त्याग की बात करते हैं तो जगत कहता है – 'ठीक है, इन्द्रियभोग त्यागने योग्य ही हैं, आपने बहुत अच्छा कहा ।' पर जब यह कहते हैं कि इन्द्रियज्ञान भी तो आत्मानुभूतिरूप ब्रह्मचर्य मे सहायक नही; तो सामान्यजन एकदम भड़क जाते हैं; समाज मे खलबली मच जाती है । कहा जाता है – 'तो क्या हम आँख से देखें भी नही, शास्त्र भी नही पढ़ें ?' और न जाने क्या-क्या कहा जाने लगता है । बात की गहराई से समझने की कोशिश न करके आरोप-प्रत्यारोप लगाये जाने लगते हैं । पर भाई ! काम तो वस्तु की सही स्थिति समझने से चलेगा, चीखने-चिल्लाने से नहीं ।

अल्पज्ञ आत्मा एक समय में एक को ही जान सकता है, एक मे ही लीन हो सकता है । अत जब यह पर को जानेगा, पर मे लीन होगा; तब अपने को जानना, अपने मे लीन होना सभव नही है । इन्द्रियों के माध्यम से पर को ही जाना जा सकता है, पर मे ही लीन हुआ जा सकता है । इनके माध्यम से न तो अपने को जाना ही जा सकता है, और न अपने मे लीन ही हुआ जा सकता है । अत इन्द्रियों के द्वारा परपदार्थों को भोगना तो ब्रह्मचर्य का घातक है ही, इनके माध्यम से बाहर का जानना-देखना भी ब्रह्मचर्य मे बाधक ही है ।

इसप्रकार इन्द्रियो के विषय – चाहे वे भोग्यपदार्थ हो, चाहे ज्ञेय पदार्थ; ब्रह्मचर्य के विरोधी ही हैं, क्योंकि वे पर्याप्त हैं और इन्द्रियों के विषय ही । इन्द्रियो के दोनों प्रकार के विषयो मे उलझना, उलझना ही है; सुलझना नहीं । सुलझने का उपाय तो एक आत्म-लीनतारूप ब्रह्मचर्य ही है ।

यहाँ एक प्रश्न सभव है कि जब इन्द्रियज्ञान आत्मज्ञान मे साधक नहीं है तो फिर शास्त्रो मे ऐसा क्यो लिखा है कि सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान एवं आत्मलीनतारूप सम्यक्चारित्र अर्थात् ब्रह्मचर्य सैनी पंचेंद्रिय को ही होता है ?

इसका आशय यह नहीं कि आत्मज्ञान के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता है, पर यह है कि ज्ञान का इतना विकास आवश्यक है कि जितना सैनी पंचेन्द्रियों के होता है। यह तो ज्ञान के विकास का नाप है।

यद्यपि यह पूर्णतः सत्य है कि सैनी पंचेन्द्रिय जीवों को ही धर्म का आरम्भ होता है, तथापि यह भी पूर्णतः सत्य है कि इन्द्रियों से नहीं; इन्द्रियों के जीतने से, उनके माध्यम से काम लेना बंद करने पर धर्म का आरंभ होता है।

दूसरे जब यह आत्मा आत्मामें लीन नहीं होगा तब किसी न किसी इन्द्रिय के विषय में लीन होगा; पर पाँचों इन्द्रियों के विषय में भी यह एक साथ लीन नहीं हो सकता, एक समय में उनमें से किसी एक में लीन होगा। इसीप्रकार पाँचों इन्द्रियों के विषयों को एक साथ जान भी नहीं सकता; क्योंकि इन्द्रियज्ञान की प्रवृत्ति क्रमशः ही होती है, युगपत् नहीं। चाहे इन्द्रियों का भोगपक्ष हो या ज्ञानपक्ष – दोनों में क्रम पड़ता है। जब हम ध्यान से कोई वस्तु देख रहे हों तो कुछ सुनाई नहीं पड़ता। इसीप्रकार यदि ध्यान से सुन रहे हों तो कुछ दिखाई नहीं देता। पर इस चंचल उपयोग का परिवर्तन इतनी शीघ्रता से होता है कि हमें लगता है हम एक साथ देख – सुन रहे हैं, पर ऐसा होता नहीं।

अब जिसके पाँच इन्द्रियाँ हैं, वह यदि आत्मा में उपयोग को नहीं लगाता है तो उसका उपयोग पाँचों इन्द्रियों के विषयों में बट जावेगा; पर जिसके चार ही इन्द्रियाँ हैं उसका उपयोग चार इन्द्रियों के विषयों में ही बटेगा। इसप्रकार तीन-इन्द्रिय जीव का तीन इन्द्रियों में और दो-इन्द्रिय जीव का दो इन्द्रियों में बटेगा। पर एक-इन्द्रिय जीव का उपयोग एवं भोग बटेगा ही नहीं, स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय में ही [illegible] में उलझा रहेगा।

इसप्रकार जब उपयोग आत्मा में नहीं रहता है तब इन्द्रियों के विषयों में बट जाता है। आत्मा तो एक ही है, उपयोग का उसमें रहने पर बटने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जब यह सैनी पंचेन्द्रिय हो जाता है तब बहिर्मुखी उपयोग पंचेन्द्रियों के विषयों में बट जाने से [illegible] हो जाता है।

इस स्थिति में ज्ञान के विकसित होने एवं इन्द्रियों के उपभोग की शक्ति घटी हुई होने से आत्मज्ञान होने की शक्ति प्रकट हो जाती है।

इसप्रकार हम देखते है कि पचेन्द्रियों के ज्ञेय एवं भोग – दोनों प्रकार के विषयों के त्यागपूर्वक आत्मलीनता ही वास्तविक अर्थात् निश्चयब्रह्मचर्य है।

अतरग अर्थात् निश्चयब्रह्मचर्य पर इतना बल देने का तात्पर्य यह नहीं है कि स्त्री-सेवनादि के त्यागरूप बाह्य अर्थात् व्यवहार-ब्रह्मचर्य उपेक्षणीय है। यहाँ निश्चयब्रह्मचर्य का विस्तृत विवेचन तो इसलिए किया गया है कि – व्यवहारब्रह्मचर्य से तो सारा जगत परिचित है, पर निश्चयब्रह्मचर्य की ओर जगत का ध्यान ही नहीं है।

जीवन में दोनों का सुमेल होना आवश्यक है। जिसप्रकार आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य की उपेक्षा करके मात्र कुशीलादि सेवन के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य को ही ब्रह्मचर्य मान लेने के कारण उल्लिखित अनेक आपत्तियाँ आती हैं, उसीप्रकार विषयसेवन के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य की उपेक्षा से भी अनेक प्रश्न उठ रहे होंगे।

जैसे – उपदेशादि में प्रवृत्त भावलिंगी सन्तों को भी तात्कालिक आत्मरमणतारूप प्रवृत्ति के अभाव में ब्रह्मचारी कहना सम्भव न होगा, फिर तो मात्र सदा ही आत्मलीन केवली ही ब्रह्मचारी कहला सकेंगे। यदि आप कहें कि उनके जो आत्मरमणतारूप ब्रह्मचर्य है, उसका उपचार करके तब भी उन्हें ब्रह्मचारी मान लेंगे जबकि वे उपदेशादि क्रिया में प्रवृत्त है। तो फिर किंचित् ही सही, पर आत्म-रमणता के होने से अविरत सम्यग्दृष्टि को भी ब्रह्मचारी मानना होगा, जो कि उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि फिर तो छ्यानवे हजार पत्नियों के रहते चक्रवर्ती भी ब्रह्मचारी कहा जायगा।

अतः ब्रह्मचारी संज्ञा स्वस्त्री के भी सेवनादि के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य के ही आधार पर निश्चित होती है। फिर भी आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य के अभाव में मात्र स्त्रीसेवनादि के त्यागरूप ब्रह्मचर्य वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं है।

पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक के अनन्तानुबंधी एवं अप्रत्याख्यान कषायों के अभावपूर्वक जो सातवी प्रतिमा के योग्य निश्चयब्रह्मचर्य

होता है, उसके साथ स्वस्त्री के सेवनादि के त्यागरूप बुद्धिपर्वक जो प्रतिज्ञा होती है वही वास्तव में व्यवहारब्रह्मचर्य है।

इसप्रकार जीवन में निश्चय और व्यवहार ब्रह्मचर्य का सुमेल आवश्यक है।

पूजनकार ने दोनों की ही संतुलित चर्चा की है :—

शीलबाड़ नौ राख, ब्रह्मभाव अंतर लखो।
करि दोनों अभिलाख, करहु सफल नरभव सदा ।।

हमें अपने शील की रक्षा नवबाड़पूर्वक करना चाहिये तथा अन्तर में अपने आत्मा को देखना-अनुभवना चाहिये। दोनों ही प्रकार के ब्रह्मचर्य का अभिलाषी होकर मनुष्यभव का वास्तविक लाभ लेना चाहिये।

जिसप्रकार खेत की रक्षा बाड़ लगाकर करते हैं, उसीप्रकार हमें अपने शील की रक्षा नौ बाड़ों से करना चाहिये। जितना अधिक मूल्यवान माल (वस्तु) होता है, उसकी रक्षा-व्यवस्था उतनी ही अधिक मजबूत करनी पड़ती है। अधिक मूल्यवान माल की रक्षा के लिये मजबूती के साथ-साथ एक के स्थान पर अनेक बाड़ें लगाई जाती हैं।

हम रत्नों को कहीं जंगल में नहीं रखते। नगर के बीच में – मजबूत मकान के भी भीतर बीचवाले कमरे में लोहे की तिजोरी में तीन-तीन ताले लगाकर रखते हैं। शील भी एक रत्न है, उसकी भी रक्षा हमें नौ-नौ बाड़ों से करनी चाहिए। हम काया से कुशील का सेवन नहीं करें, कुशीलपोषक वचन भी न बोलें, मन में भी कुशीलसेवन के विचार न उठने दें। ऐसा न हम स्वयं करें, न दूसरों से करावें, और न उसप्रकार के कार्यों की अनुमोदना ही करें।

इसप्रकार यद्यपि शास्त्रों में भी निश्चयब्रह्मचर्य का सहचारी जानकर स्त्रीसेवनादि के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य की पर्याप्त चर्चा की गई है; तथापि आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य के बिना मुक्ति के मार्ग में उसका विशेष महत्त्व नहीं है। निश्चयब्रह्मचर्य के बिना वह [illegible] ही है।

यद्यपि यहाँ ब्रह्मचर्य का वर्णन मुनिधर्म की अपेक्षा किया है, अतः उत्कृष्टता वर्णन है; तथापि गृहस्थों को भी ब्रह्मचर्य

की आराधना से विरत नहीं होना चाहिए, उन्हें भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार इसे अवश्य धारण करना चाहिये।

मुनियों और गृहस्थों की कौनसी भूमिका में किस स्तर का अन्तर्बाह्य ब्रह्मचर्य होता है – इसकी चर्चा चरणानुयोग के शास्त्रों में विस्तार से की गई है। जिज्ञासु बन्धुओं को इस विषय में विस्तार से वहाँ से जानना चाहिये। उन सबका वर्णन इस लघु निबन्ध में सम्भव नहीं है।

ब्रह्मचर्य एक धर्म है, उसका सीधा सम्बन्ध आत्महित से है। इसे किसी लौकिक प्रयोजन की सिद्धि का माध्यम बनाना ठीक नहीं है। पर इसका प्रयोग एक उपाधि (Degree) जैसा किया जाने लगा है। यह भी आजकल एक उपाधि (Degree) बन कर रह गया है। जैसे – शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम०ए०, पीएच०डी०, या वाणीभूषण, विद्यावाचस्पति, या दानवीर, नरसेठ आदि उपाधियाँ व्यवहृत होती है, उसीप्रकार इसका भी व्यवहार चल पड़ा है।

यह यश-प्रतिष्ठा का साधन बन गया है। इसका उपयोग इसी अर्थ में किया जाने लगा है। इस कारण भी इस क्षेत्र में विकृति आयी है।

जिसप्रकार आज की सम्मानजनक उपाधियाँ भीड़-भाड़ में ली और दी जाती हैं, उसीप्रकार इसका भी आदान-प्रदान होने लगा है। अब इसका भी जुलूस निकलता है। इसके लिए भी हाथी चाहिये, बैंड-बाजे चाहिये। यदि स्त्री-त्याग को भी बैंड-बाजे चाहिये तो फिर शादी-ब्याह का क्या होगा ?

आज की दुनियाँ को क्या हो गया है ? इसे स्त्री रखने में भी बैंड-बाजे चाहिये, स्त्री छोड़ने में भी बैंड-बाजे चाहिये। समझ में नहीं आता ग्रहण और त्याग में एक-सी क्रिया कैसे सम्भव है ?

एक व्यक्ति भीड़-भाड़ के अवसर पर अपने श्रद्धेय गुरु के पास ब्रह्मचर्य लेने पहुँचा, पर उन्होंने मना कर दिया तो मेरे जैसे अन्य व्यक्ति के पास सिफारिश कराने के लिये आया। जब उससे कहा गया – "गुरुदेव अभी ब्रह्मचर्य नहीं देना चाहते तो मत लो, वे भी तो कुछ सोच-समझ कर मना करते होंगे।"

उसके द्वारा अनुनय-विनयपूर्वक बहुत आग्रह किये जाने पर जब उससे कहा गया कि 'भाई ! समझ में नहीं आता कि तुम्हें इतनी परेशानी क्यों हो रही है ? भले ही गुरुदेव तुम्हें ब्रह्मचर्य व्रत न दें, पर

वे तुम्हें ब्रह्मचर्य से रहने से तो रोक नहीं सकते; तुम ब्रह्मचर्य से रहो न, तुम्हें क्या परेशानी है? तुम्हें ब्रह्मचर्य से रहने से तो कोई रोक नहीं सकता।"

इसके बाद भी उसे सन्तोष नहीं हुआ तो उससे कहा गया कि "अभी रहने दो, अभी छह मास अभ्यास करो। बाद में तुम्हें ब्रह्मचर्य दिला देंगे, जल्दी क्या है?"

तब वह एकदम बोला – "ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा?"

"कैसा अवसर"–यह पूछने पर कहने लगा–"यह पंचकल्याणक मेला बार-बार थोड़े ही होगा।"

अब आप ही बताइये कि उसे ब्रह्मचर्य चाहिये, कि पचास हजार जनता के बीच ब्रह्मचर्य चाहिये। उसे ब्रह्मचर्य से नहीं, ब्रह्मचर्य की घोषणा से मतलब था। उसे ब्रह्मचर्य नहीं, ब्रह्मचर्य की डिग्री चाहिये थी; वह भी सबके बीच घोषणापूर्वक, जिससे उसे समाज में सर्वत्र सम्मान मिलने लगे, उसकी भी पूछ होने लगे, पूजा होने लगे।

जैनधर्मानुसार तो सातवीं ब्रह्मचर्यप्रतिमा तक घर में रहने का अधिकार ही नहीं, कर्त्तव्य है। अर्थात् बनाकर खाने की ही बात नहीं, कमाकर खाने की भी बात है; क्योंकि वह अभी परिग्रहत्यागी नहीं हुआ है, आरंभत्यागी भी नहीं हुआ है। उसे तो चादर ओढ़ने की भी जरूरत नहीं है; वह तो धोती, कुर्त्ता, पगड़ी आदि पहनने का अधिकारी है; शास्त्रों में कहीं भी इसका निषेध नहीं है।

पर ब्रह्मचर्यप्रतिमा तो दूर, पहली भी प्रतिमा नहीं; कोरा ब्रह्मचर्य लिया, चादर ओढ़ी और चल दिये। कमाकर खाना तो दूर, बनाकर खाने से भी छुट्टी। मुझे इस बात की कोई तकलीफ नहीं कि उन्हें समाज क्यों खिलाता है? समाज की यह गुणग्राहकता प्रशंसनीय ही नहीं, अभिनन्दनीय है। मेरा आशय तो यह है कि जब उनकी व्यवस्था ठीक से समाज नहीं कर पाती है, तब देखिये उनका व्यवहार; सदैव उस समाज की बुराई करना मानो उनका प्रमुख धर्म हो जाता है। समाज प्रेम से उनका भार उठाये, आदर करे – बहुत बढ़िया बात है, पर [illegible] समाज पर भार बनना शास्त्र-सम्मत नहीं है।

ब्रह्मचर्यधर्म तो एकदम अन्तर की चीज है, व्यक्तिगत चीज है; पर हमने उसे भी पद या डिग्री (Degree) बना दिया है। ब्रह्मचर्य तो आत्मा के अंदर रमण का नाम है, पर आज अपने को ब्रह्मचारी कहने वाले आत्मा [illegible] क्या कहा जाय?

आत्मा के अनुभव बिना तो सम्यग्दर्शन भी नहीं होता, व्रत तो सम्यग्दर्शन के बाद होते हैं। स्वस्त्री का संग तो छठवी प्रतिमा तक रहता है, सातवीं प्रतिमा में स्वस्त्री का साथ छूटता है। अर्थात् स्त्री-सेवन के त्याग के पहले आत्मा का अनुभवरूप ब्रह्मचर्य होता है, पर उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं है।

यहाँ सम्यग्दर्शन के बिना भी बाह्य ब्रह्मचर्य का निषेध नहीं है, वह निवृत्ति के लिये उपयोगी भी है। गृहस्थ संबंधी झंझटो के न होने से शास्त्रों के अध्ययन-मनन-चिन्तन के लिये पूरा-पूरा अवसर मिलता है। पर बाह्य ब्रह्मचर्य लेकर स्वाध्यायादि में न लगकर मानादि पोषण में लगे तो उसने बाह्य ब्रह्मचर्य भी नहीं लिया, मान लिया है, सम्मान लिया है।

ब्रह्मचर्य की चर्चा करते समय दशलक्षण पूजन मे एक पंक्ति आती है।

'संसार मे विष-बेल नारी, तज गये योगीश्वरा।'

आजकल जब भी ब्रह्मचर्य की चर्चा चलती है तो दशलक्षण पूजन की उक्त पंक्ति पर बहुत नाक-भौं सिकोडी जाती है। कहा जाता है कि इसमें नारियों की निन्दा की गई है। यदि नारी विष की बेल है तो क्या नर अमृत का वृक्ष है ? नर भी तो विष-वृक्ष है।

यहाँ तक कहा जाता है कि पूजाएँ पुरुषो ने लिखी हैं, अत उसमे नारियो के लिए निन्दनीय शब्दो का प्रयोग किया गया है।

तो क्या नारियाँ भी एक पूजन लिखें और उसमे लिखदें कि –

'संसार मे विष-वृक्ष नर, सब तज गई योगीश्वरी।'

भाई, ब्रह्मचर्य जैसे पावन विषय को नर-नारी के विवाद का विषय क्यों बनाते हो ? ब्रह्मचर्य की चर्चा मे पूजनकार का आशय नारी-निन्दा नहीं है। पुरुषों को श्रेष्ठ बताना भी पूजनकार को इष्ट नहीं है। इसमें पुरुषों के गीत नहीं गाये हैं, वरन् उन्हें कुशील के विरुद्ध डांटा है, फटकारा है।

नारी शब्द में तो सभी नारियाँ आ जाती है, जिनमे माता, बहिन, पुत्री आदि भी शामिल है। तो क्या नारी को विष-बेल कहकर माता, बहिन और पुत्री को विष-बेल कहा गया है।

नहीं, कदापि नहीं।

क्या इस छन्द में 'नारी' के स्थान पर 'जननी', 'भगिनी' या 'पुत्री' शब्द का प्रयोग सम्भव है ?

नहीं, कदापि नहीं। क्योंकि फिर उसका रूप निम्नानुसार हो जावेगा, जो हमें कदापि स्वीकार नहीं हो सकता।

'संसार में विष-वेल जननी, तज गये योगीश्वरा।'

या

'संसार में विष-वेल भगिनी, तज गये योगीश्वरा।'

या

'संसार में विष-वेल पुत्री, तज गये योगीश्वरा।'

यदि नारी शब्द से कवि का आशय माता, वहिन या पुत्री नहीं है तो फिर क्या है ?

स्पष्ट है कि 'नारी' शब्द का आशय नर के हृदय में नारी के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले भोग के भाव से है। इसीप्रकार उपलक्षण से नारी के हृदय में नर के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले भोग के भाव भी अपेक्षित हैं।

यहाँ विपरीत सेक्स के प्रति आकर्षण के भाव को ही विष-वेल कहा गया है, चाहे वह पुरुष के हृदय में उत्पन्न हुआ हो, चाहे स्त्री के हृदय में। और उसे त्यागने वाले को ही योगीश्वर कहा गया है, चाहे वह स्त्री हो, चाहे पुरुष। मात्र शब्दों पर न जाकर, शब्दों की अदला-बदली का अनर्थक प्रयास छोड़कर, उनमें समाये भावों को हृदयंगम करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

यदि हम शब्दों की हेरा-फेरी के चक्कर में पड़े तो कहाँ-कहाँ बदलेंगे, क्या-क्या बदलेंगे ? हमें अधिकार भी क्या है दूसरों की कृति में हेरा-फेरी करने का।

उक्त पंक्तियों में कवि का परम पावन उद्देश्य अब्रह्म से हटाकर ब्रह्म में लीन होने की प्रेरणा देने का है। हमें भी उनके भाव को पवित्र हृदय से ग्रहण करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मरमणता साक्षात् धर्म है, सर्वोत्कृष्ट धर्म है। सभी आत्माएँ ब्रह्म के शुद्धस्वरूप को जानकर, पहिचानकर—उसी में जम जावें, रम जावें, और अनन्त काल तक तद्रूप परिणमित [illegible] भावना के साथ विराम लेता हूँ।

# क्षमावाणी

दशलक्षण महापर्व के तत्काल बाद मनाया जानेवाला क्षमावाणी पर्व एक ऐसा महापर्व है, जिसमें हम वैर-भाव को छोड़कर एक-दूसरे से क्षमायाचना करते हैं, एक-दूसरे के प्रति क्षमाभाव धारण करते हैं। इसे क्षमापना भी कहा जाता है।

मनोमालिन्य धो डालने में समर्थ यह महापर्व आज मात्र शिष्टाचार बनकर रह गया है। यह बात नहीं कि हम इसे उत्साह से न मनाते हों, इससे उदास हो गये हों। आज न हम इससे उदास हुए हैं; तथा मात्र उत्साह से ही नहीं, इसे अति उत्साह से मनाते हैं।

इस अवसर पर सारे भारतवर्ष में लाखों रुपयों के बहुमूल्य कार्ड छपाये जाते हैं, उन्हें विचित्र सुन्दर लिफाफों में रखकर हम इष्टमित्रों को भेजते हैं, लोगों से गले लगकर मिलते हैं, क्षमायाचना भी करते हैं; पर यह सब यंत्रवत् चलता है। हमारे चेहरे पर मुस्कान भी होती है, पर बनावटी। हमारी असलियत न मालूम कहाँ गायब हो गई है? विमान-परिचारिकाओं की भाँति हम भी नकली मुस्कराने में ट्रेन्ड हो गये हैं।

हम माफी मांगते हैं, पर उनसे नहीं जिनसे मांगना चाहिये, जिनके प्रति हमने अपराध किए हैं, अनजाने में ही नहीं, जान-बूझकर; हमें पता भी है उनका, पर...... । हम क्षमावाणी कार्ड भी भेजते हैं, पर उन्हें नहीं जिन्हें भेजना चाहिए; पुन-पुनकर उन्हें भेजते हैं, जिनके प्रति न तो हमने कोई अपराध किए हैं और न जिन्होंने हमारे प्रति ही कोई अपराध किया है। आज क्षमा भी उन्हीं से मांगी जाती है जिनसे हमारे मित्रता के संबंध हैं, जिनके प्रति अपराध-बोध भी हमें कभी नहीं हुआ है। बताइये जरा, वास्तविक शत्रुओं से कौन क्षमा मांगता है? उन्हें कौन-कौन क्षमावाणी कार्ड डालते हैं। क्षमा करने-कराने के वास्तविक अधिकारी तो वे ही हैं। पर उन्हें कौन पूछता है?

बड़े कहलाने वाले बहुधंधी लोगों की स्थिति तो और भी विचित्र हो गई है। उनके यहाँ एक लिस्ट तैयार रहती है – जिसके अनुसार

शादी के निमंत्रण कार्ड भेजे जाया करते हैं; उसी लिस्ट के अनुसार कर्मचारीगण क्षमावाणी कार्ड भी भेज दिया करते हैं। भेजने वाले को पता ही नहीं रहता कि हमने किस-किस से क्षमायाचना की है।

यही हाल उनका भी रहता है – जिनके पास वे कार्ड पहुँचते हैं। उनके कर्मचारी प्राप्त कर लेते हैं। यदि कभी फुर्सत हुई तो वे भी एक निगाह डाल लेते हैं कि किन-किन के क्षमावाणी कार्ड आये हैं। उनमें क्या लिखा है, यह पढ़ने का प्रयत्न वे भी नहीं करते। करें भी क्यों ? क्या कार्ड डालने वाले को भी पता है कि उसमें क्या लिखा है ? क्या उसने भी वह कार्ड पढ़ा है ? लिखने की बात तो बहुत दूर।

बाजार से बना-बनाया ड्राफ्ट और छपा-छपाया कार्ड लाया गया है, पते अवश्य लिखने पड़े हैं। यदि वे भी किसी प्रकार छपे-छपाये मिल जाते होते तो उन्हें भी लिखने का कष्ट कौन करता ? कदाचित् यदि उसमें प्रेस की गलती से गालियाँ छप जावे तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। चिन्ता तो तब हो जब कोई उसे पढ़े। जब उसे कोई पढ़ने वाला ही नहीं – सब उसका कागज, प्रिंटिंग, गेटअप ही देखेंगे, फिर चिन्ता किस बात की ?

करे भी क्या ? आज का आदमी इतना व्यस्त हो गया है कि उसे कहाँ फुर्सत है – यह सब करने की ? स्वयं पत्र लिखे भी तो कितनों को ? व्यवहार भी तो इतना बढ़ गया है कि जिसका कोई हिसाब नहीं। बस सब-कुछ यों ही चल रहा है।

क्षमायाचना जो कि एकदम व्यक्तिगत चीज थी, आज बाजारू बन गई है। क्षमायाचना या क्षमाकरना एक इतना महान कार्य है, इतना पवित्र धर्म है कि जो जीव का जीवन बदल सकता है; बदल [illegible] है, [illegible] में क्षमा करने और क्षमा माँगनेवाले का जीवन बदल जाता है। पर न मालूम आज का यह दोपाया कैसा चिकना घड़ा हो गया है कि इस पर पानी ठहरता ही नहीं। इसकी 'कारी कामरी' पर कोई दूसरा रंग चढ़ता ही नहीं।

बड़े-बड़े त्यौहार आते हैं, बड़े-बड़े महान संत आते हैं, और यों ही चले जाते हैं; इनका हम पर कोई असर नहीं पड़ता। यह बराबर [illegible] रहता है। हमने कितनी क्षमावाणी मना डालीं, फिर भी हमारी [illegible] पुरानी [illegible] वैसी की वैसी कायम है, [illegible] है।

धन्य है इसकी वीरता को। कहता है 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'। अनेकों क्षमावाणियाँ बीत गई, पर इसकी वीरता नहीं बीती। अभी भी ताल ठोककर तैयार है – लड़ने के लिए, मरने के लिए। और तो और – क्षमा माँगने के मुद्दे पर भी लड़ सकता है, क्षमा माँगते-माँगते लड़ सकता है, क्षमा नहीं माँगने पर भी लड़ सकता है, बलात् क्षमा माँगने को बाध्य भी कर सकता है।

इसमें न मालूम कैसा विचित्र सामर्थ्य पैदा हो गया है कि माफी माँगकर भी अकड़ा रह सकता है, माफ करके भी माफ नहीं कर सकता है। कभी-कभी तो माफी भी अकड़कर माँगता है और माफी माँग लेने का रोब भी दिखाता है।

मेरे एक सहपाठी की विचित्र आदत थी। वह बड़ी अकड़ के साथ, बड़े गौरव से माफी माँगा करता था और तत्काल फिर उसी मुद्दे पर अकड़ने लगता था। वह कहता – गलती की तो क्या हो गया? माफी भी तो माँग ली है, अब अकड़ता क्यों है?

इस तरह बात करता कि जैसे उसने माफी माँगकर बहुत बड़ा अहसान किया है। उस अहसान का आपको अहसानमन्द होना चाहिए।

जिनसे झगड़ा हुआ हो, एक तो हम लोग उन लोगों से क्षमा-याचना करते ही नहीं। कदाचित् हमारे इष्टमित्र सद्भाव बनाने के लिए उनसे क्षमा माँगने की प्रेरणा देते हैं, बाध्य करते हैं, तो हम अनेक शर्तें रख देते हैं। कहते हैं – "उससे भी तो पूछो कि वह भी क्षमा माँगने या क्षमा करने को तैयार है या नहीं?"

यदि वह भी तैयार हो जाता है तो फिर इस बात पर बात अटक जाती है कि पहिले क्षमा कौन माँगे? इसका भी कोई रास्ता निकाल लिया जावे तो फिर क्षमा माँगने और करने की विधि पर झगड़ा होने लगता है – क्षमा लिखित माँगी जावे या मौखिक।

यदि यह मसला भी किसी प्रकार हल कर लिया जावे तो फिर क्षमा माँगने की भाषा तय करना कोई आसान काम नहीं है। माँगने वाला इस भाषा में क्षमा माँगेगा कि "मैंने कोई गलती तो की नहीं है, फिर भी आप लोग नहीं मानते हैं तो मैं क्षमा माँगने को तैयार हूँ लेकिन.........।" – कहकर कोई नई शर्त जोड़ देता है।

इस पर क्षमादान करने वाला अकड़ जाएगा, कहेगा – "पहिले अपराध स्वीकार करो, बाद में माफ करूँगा।"

इसप्रकार लोग कभी न किये गये अपराध के लिए क्षमा माँगेंगे और क्षमा करने वाला अस्वीकृत अपराध को क्षमा करने के लिए तैयार न होगा। यदि कदाचित् भाषा के महापण्डित मिल-जुलकर कोई ऐसा ड्राफ्ट बना लावें कि जिससे 'सांप भी मर जावे और लाठी भी न टूटे' तो फिर इस बात पर झगड़ा हो सकता है कि क्षमा आदान-प्रदान का स्थान कौनसा हो ?

इन सब बातों को निपटाकर यदि क्षमायाचना या क्षमाप्रदान कार्यक्रम समारोह सानन्द सम्पन्न भी हो जावे, तो भी क्या भरोसा कि यह क्षमाभाव कब तक कायम रहेगा ? कायम रहने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? जब हृदय में क्षमाभाव आया ही नहीं, सब-कुछ कागज में या वाणी में ही रह गया है।

इसप्रकार की क्षमावाणी क्या निहाल करेगी ? यह भी एक विचार करने की बात है।

'क्षमा करना, क्षमा करना' रटते लोग तो पग-पग पर मिल जावेंगे; किन्तु हृदय से वास्तविक क्षमायाचना करने वाले एवं क्षमा करने वालों के दर्शन आज दुर्लभ हो गये हैं। क्षमावाणी का सही रूप तो यह होना चाहिए कि हम अपनी गलतियों का उल्लेख करते हुए विनयपूर्वक आमने-सामने या पत्र द्वारा शुद्ध हृदय से क्षमायाचना करें एवं पवित्रभाव से दूसरों को क्षमा करें अर्थात् क्षमाभाव धारण करें।

आप सोच सकते हैं कि इस पावन अवसर पर मैं भी क्या बात ले बैठा ? पर मैं जानना चाहता हूँ कि क्या कभी आपने क्षमावाणी के बाद – जबकि आपने अनेकों को क्षमा किया है, अनेकों से क्षमा मांगी है, आत्मनिरीक्षण किया है ? यदि नहीं, तो अब करके देखिये कि क्या आपके जीवन में भी कोई अन्तर आया है या जैसा का तैसा ही चल रहा है ? यदि जैसा का तैसा ही चल रहा है तो फिर मेरी बात की सच्चाई पर एक बार गंभीरता से विचार कीजिए, उसे ऐसे ही बातों में न उड़ा दीजिए। क्या मैं आशा करूँ कि आप इस ओर ध्यान देंगे ? देंगे तो कुछ लाभ उठायेंगे, अन्यथा जैसा चल रहा है वैसा तो चलता ही रहेगा, उसमें तो कुछ आना-जाना है नहीं।

क्षमावाणी का वास्तविक भाव तो यह था कि पर्वराज पर्यूषण के दशलक्षणों की आराधना से हमारा हृदय क्षमाभाव से आनन्द-आप्लावित [illegible] । और जिसप्रकार [illegible] तक आनन्द-आप्लावित हो

जाता है तो फिर उबलने लगता है, छलकने लगता है; उसीप्रकार जब हमारा हृदयघट क्षमाभावादिजल से आकण्ठ-आपूरित हो उठे, तब वही क्षमाभाव वाणी में भी छलकने लगे, झलकने लगे; तभी वह वस्तुत वाणी की क्षमा अर्थात् क्षमावाणी होगी। किन्तु आज तो क्षमा मात्र हमारी वाणी में रह गई, अन्तर से उसका सम्बन्ध ही नही रहा है।

हम क्षमा-क्षमा वाणी से तो बोलते हैं, पर क्षमाभाव हमारे गले के नीचे नही उतरता। यही कारण है कि हमारी क्षमायाचना कृत्रिम हो गई है, उसमे वह वास्तविकता नही रह गई है – जो होनी चाहिए थी या वास्तविक क्षमाधारी के होती है।

ऊपर-ऊपर से हम बहुत मिठबोले हो गये हैं। हृदय मे द्वेषभाव कायम रखकर हम छल से ऊपर-ऊपर से क्षमायाचना करने लगे हैं।

मायाचारी के क्रोध, मान वैसे प्रकट नही होते जैसे कि सरल स्वभावी के हो जाते हैं। प्रकट होने पर उनका बहिष्कार, परिष्कार संभव है; पर अप्रकट को कौन जाने ? अतः क्षमाधारक को शान्त और निरभिमानी होने के साथ सरल भी होना चाहिए।

कुटिल व्यक्ति क्रोध-मान को छिपा तो सकता है, पर क्रोध-मान का अभाव करना उसके वश की बात नही है। क्रोध-मान को दबाना और बात है तथा हटाना और। क्रोध-मानादि को हटाना क्षमा है, दबाना नही।

यहाँ आप कह सकते हैं कि क्षमा तो क्रोध के अभाव का नाम है, क्षमाधारक को निरभिमानी भी होना चाहिए, सरल भी होना चाहिए आदि शर्तें क्यो लगाते जाते है ?

यद्यपि क्षमा क्रोध के अभाव का नाम है; तथापि क्षमावाणी का सबध मात्र क्रोध के अभावरूप क्षमा से ही नही, अपितु क्रोधमानादि विकारो के अभावरूप क्षमामार्दवादि दशो धर्मों की आराधना एव उससे उत्पन्न निर्मलता से है।

क्षमा मांगने मे बाधक क्रोधकषाय नही, अपितु मानकषाय है। क्रोधकषाय क्षमा करने मे बाधक हो सकती है, क्षमा मांगने में नही।

जब हम कहते है :–

"खम्मामि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वैर मज्झ ण केण इ॥"

सब जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। सब जीवों से मेरा मैत्रीभाव है, किसी से भी वैरभाव नहीं है।"

तब हम 'मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ,' कहकर क्रोध के त्याग का संकल्प करते हैं या क्रोध के त्याग की भावना भाते हैं तथा 'सब जीव मुझे क्षमा करें' कहकर मान के त्याग का संकल्प करते हैं या मान के त्याग की भावना भाते हैं। इसीप्रकार सब जीवों से मित्रता रखने की भावना मायाचार के त्यागरूप सरलता प्राप्त करने की भावना है।

इसलिए क्षमावाणी को मात्र क्रोध के त्याग तक सीमित करना उचित नहीं।

एक बात यह भी तो है कि इस दिन हम क्षमा करने के स्थान पर क्षमा मांगते अधिक हैं। भले ही उक्त छन्द में 'मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ' वाक्य पहले हो, पर सामान्य व्यवहार में हम यही कहते हैं – 'क्षमा करना'। यह कोई कहता दिखाई नहीं देता कि 'क्षमा किया'। इसे 'क्षमायाचना' दिवस के रूप में ही देखा जाता है, 'क्षमाकरना' दिवस के रूप में नहीं।

क्षमायाचना मानकषाय के अभाव में होने वाली प्रवृत्ति है। अतः क्यों न इसे मार्दववाणी कहा जाये? पर सभी इसे क्षमावाणी ही कहते हैं। एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि दशलक्षण महापर्व के बाद मनाया जाने वाला यह उत्सव प्रतिवर्ष क्षमादिवस के रूप में ही क्यों मनाया जाता है? एक वर्ष क्षमादिवस, दूसरे वर्ष मार्दवदिवस, तीसरे वर्ष आर्जवदिवस आदि के रूप में क्यों नहीं? क्योंकि धर्म तो दशों ही एक समान हैं। क्षमा को ही इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया जाता है?

भाई! यह प्रश्न तो तब उठाया जा सकता है जबकि क्षमावाणी का अर्थ मात्र क्षमावाणी हो। क्षमावाणी का वास्तविक अर्थ तो क्षमादिवाणी है। क्षमा आदि दशों धर्मों की आराधना से आत्मा में उत्पन्न निर्मलता, कोमलता, सरलता, निर्लोभता, सत्यता, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य से उत्पन्न समग्र पवित्रभाव का [illegible] ही वास्तविक क्षमावाणी है। जब तक भूमिका- [illegible] क्षमावाणी [illegible] होगा।

अब रह जाती है मात्र यह बात कि फिर इसका नाम अकेली क्षमा पर ही क्यों रखा गया है ? सो इसका समाधान यह है कि क्या इतना बड़ा नाम रखने का प्रयोग सफल होता ? क्या इतना बड़ा नाम सहज ही सब की जबान पर चढ सकता था ? नही, बिल्कुल नहीं।

अतः जिसप्रकार अनेक भाइयों या भागीदारों का बराबर भाग रहने पर भी फर्म या कम्पनी का नाम प्रथम भाई के नाम पर रख दिया जाता है, एक भाई का नाम रहने पर भी सबके स्वामित्व मे कोई अंतर नही पडता; उसीप्रकार क्षमा का नाम रहने पर क्षमावाणी में दशो धर्म समा जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न यह भी सभव है कि जिसके नाम की दुकान होगी, सामान्य लोग तो यही समझेंगे कि दुकान उसी की है।

यह बात ठीक है, स्थूलबुद्धि वालो को ऐसा भ्रम प्रायः हो जाता है, पर समझदार लोग सब सही ही समझते हैं। इसीकारण तो क्षमावाणी को स्थूलबुद्धि वाले मात्र क्षमावाणी ही समझ लेते हैं, क्षमादिवाणी नही समझ पाते। पर जब समझदार लोग समझाते हैं तो सामान्य लोगो की भी समझ में आजाता है। इसीलिए तो इतना स्पष्टीकरण किया जा रहा है। यदि इस भ्रम की सभावना नहीं होती तो फिर इतने स्पष्टीकरण की आवश्यकता क्यो रहती ?

दुनियादारी मे तो आज का आदमी बहुत चतुर हो गया है। क्या देश मे जितने भी मिल, दुकानें गाधीजी के नाम पर है, उन सबके मालिक गाधीजी हैं ? नही, बिल्कुल नही, और यह बात सब अच्छी तरह समझते भी हैं। पर न मालूम आध्यात्मिक मामलो में इसप्रकार के भ्रमो मे क्यो उलझ जाते है ? वस्तुतः बात तो यह है कि आध्यात्मिक मामलों में कोई भी व्यक्ति दिमाग पर वजन ही नही डालना चाहता। गहराई से सोचना ही नहीं है तो समझ में कैसे आवे ? यदि सामान्य व्यक्ति भी थोड़ा-सा भी गहराई से विचार करे तो सब समझ मे आ सकता है।

दशलक्षण महापर्व के समान क्षमावाणी उत्सव भी वर्ष मे तीन बार मनाया जाना चाहिए; पर जब दशलक्षणपर्व भी तीन बार नही मनाया जाता है तो फिर इसे कौन मनावे ? खैर जो भी हो, पर वर्ष मे एक बार तो हम इसे बड़े उत्साह से मनाते ही हैं। इस कारण भी इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि मनोमालिन्य और वैरभाव धोने-मिटाने का अवसर एक बार ही प्राप्त होता है।

वर्ष में तीन बार क्षमावाणी आने का भी कारण है। और वह यह कि अप्रत्याख्यान कषाय छः माह से अधिक नहीं रहती। यदि अधिक रहे तो समझना चाहिए कि वह अनन्तानुबंधी है। अनन्तानुबंधी कषाय अनंत संसार का कारण है। अतः यदि क्षमावाणी छः माह के भीतर ही हो जावे और उसके निमित्त से हम छः माह के भीतर ही क्रोधमानादि कषायभावों को धो डालें तो बहुत अच्छा रहे।

वैरभाव तो एक दिन भी रखने की वस्तु नहीं है। प्रथम तो वैरभाव धारण ही नहीं करना चाहिए। यदि कदाचित् हो भी जावे तो उसे तत्काल मिटा देना चाहिए। इसके बाद भी यदि रह जाय तो फिर क्षमावाणी के दिन तो मन साफ हो ही जाना चाहिए।

इसमें एक बात और भी विचारणीय है। वह यह कि इसे हमने मनुष्यों तक ही सीमित कर रखा है, जबकि आचार्यों ने इसे जीवमात्र तक विस्तार दिया है।

वे यह नहीं लिखते :–

'खम्मामि सव्व जैनी, सव्वे जैनी खमन्तु मे।'

या

'खम्मामि सव्व मनुजा, सव्वे मनुजा खमन्तु मे।'

बल्कि यह लिखते हैं :–

'खम्मामि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमन्तु मे।'

वे सब जैनियों या सर्व मनुष्यों मात्र से क्षमा मांगने या क्षमा करने की बात न करके सब जीवों को क्षमा करने और सब जीवों से क्षमा मांगने की बात करते हैं। इसीप्रकार वे मात्र जैनियों या मनुष्यों से मित्रता नहीं चाहते, किन्तु प्राणीमात्र से मित्रता की कामना करते हैं। उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं, विशाल है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब कोई जीव हमसे क्षमा मांगे ही नहीं, तो हम उसे कैसे क्षमा करें ? तथा हम उससे क्या क्षमा मांगें, जो हमारी बात समझ ही नहीं सकता। जो हमारी बात समझ ही नहीं सकता, वह हमें क्या क्षमा करेगा, कैसे क्षमा करेगा ? — इस प्रकार एकेन्द्रियादि जीवों से क्षमा मांगना और उन्हें क्षमा करना कैसे संभव है ?

[illegible] पर क्षमावाणी [illegible] प्राणियों की सम्मिलित [illegible] है, क्योंकि

(Independent) क्रिया है। क्षमावाणी एक धार्मिक परिणति है, आध्यात्मिक क्रिया है। उसमें पर के सहयोग एवं स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती। यदि हम क्षमाभाव धारण करना चाहते हैं, तो उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि जब कोई हमसे क्षमायाचना करे, तब ही हम क्षमा कर सकें अर्थात् क्षमा धारण कर सकें। अपराधी द्वारा क्षमायाचना नहीं किये जाने पर भी उसे क्षमा किया जा सकता है। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर क्षमा धारण करना भी पराधीन हो जाता। यदि किसी ने हमसे क्षमायाचना नहीं की, तो उसने स्वयं की मानकषाय का त्याग नहीं किया और यदि हमने उसके द्वारा क्षमायाचना किए बिना ही क्षमा कर दिया तो हमने अपने क्रोधभाव का त्याग कर उसका नहीं, अपना ही भला किया है।

इसीप्रकार हमारे द्वारा क्षमायाचना करने पर भी यदि कोई क्षमा नहीं करता है, तो क्रोध का त्याग नहीं करने से उसका ही बुरा होगा। हमने तो क्षमायाचना द्वारा मान का त्याग कर, अपने में मार्दव-धर्म प्रकट कर ही लिया। उसके द्वारा क्षमा नहीं करने से, क्षमा माँगने से होने वाले लाभ से हम वंचित नहीं रह सकते।

यही कारण है कि आचार्यों ने अन्य जीवों द्वारा क्षमायाचना की अपेक्षा किए बिना ही सब जीवों को अपनी ओर से क्षमा करके तथा 'कोई क्षमा करेगा या नहीं' – इस विकल्प के बिना ही सबसे क्षमा-याचना करके अपने अन्तस्थल में उत्तमक्षमामार्दवादि धर्मों को धारण कर लिया।

कोई जीव हमसे क्षमा माँगे, चाहे नहीं; हमें क्षमा करे, चाहे नहीं; हम तो अपनी ओर से सबको क्षमा करते हैं और सबसे क्षमा माँगते हैं – इसप्रकार हम तो अब किसी के शत्रु नहीं रहे और न हमारी दृष्टि में कोई हमारा शत्रु रहा है। जगत हमें शत्रु माने तो माने, जाने तो जाने; हमें इससे क्या ? और हमारा दूसरे की मान्यता पर अधिकार भी क्या है ?

हम तो अपनी मान्यता सुधार कर अपने में आते हैं, जगत की जगत जाने – ऐसी वीतराग परिणति का नाम ही सच्चे अर्थों में क्षमावाणी है।

क्षमावाणी का सही स्वरूप नहीं समझ पाने के कारण उसके प्रस्तुतीकरण में भी अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो गई हैं।

कुछ दिन पूर्व एक चित्र-प्रतियोगिता हुई थी, जिसमें क्षमावाणी को चित्र के माध्यम से प्रस्तुत करना था। सर्वोत्तम चित्र के लिये प्रथम पुरस्कार प्राप्त चित्र का जब प्रदर्शन किया गया तब चित्रकार के साथ-साथ निर्णायकों की समझ पर भी तरस आये बिना न रहा।

'क्षमा वीरस्य भूषणम्' के प्रतीकरूप में दिखाए गये चित्र में एक पौराणिक महापुरुष द्वारा एक अपराधी का वध चित्रित था। उसका जो स्पष्टीकरण किया जा रहा था, उसका भाव कुछ इस प्रकार था :–

"उक्त महापुरुष ने अपराधी के सौ अपराध क्षमा कर दिये, पर जब उसने एक सौ एकवाँ अपराध किया तो उसका सिर धड़ से अलग कर दिया।"

क्षमा के चित्रण में हत्या के प्रदर्शन का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा जा रहा था :–

"यदि वे एक सौ एकवें अपराध के बाद भी उसको नहीं मारते तो फिर वे कायर समझे जाते। कायर की क्षमा कोई क्षमा नहीं है; क्योंकि क्षमा तो वीर का भूषण है।

सौ अपराधों को क्षमा करने से तो क्षमा सिद्ध हुई और मार डालने से वीरता। इसप्रकार यह 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' का सर्वोत्कृष्ट प्रस्तुतीकरण है। यही कारण है कि इन्हें क्षमावाणी के अवसर पर सर्वप्रथम पुरस्कार दिया जा रहा है।"

क्षमा के साथ हिंसा की संगति ही नहीं, औचित्य सिद्ध करने वालों से मुझे कुछ नहीं कहना है। मैं तो मात्र यह कहना चाहता हूँ कि इस पौराणिक आख्यान को क्षमा का रूपक देने वालों ने इस तथ्य की ओर ध्यान क्यों नहीं दिया कि उनकी क्षमा क्रोधादि कषायों के अभावरूप परिणति का परिणाम नहीं थी, वरन् वे सौ अपराधों को क्षमा करने के लिये वचनबद्ध थे। उनकी वचनपालन की दृढ़ता और [illegible] भले ही प्रशंसनीय है, परन्तु उसे उत्तमक्षमा का प्रतीक कैसे कहा जा सकता है?

[illegible] कि क्या सच्चे क्षमाभाव की दृष्टि [illegible] सम्भव हो सकता है? जब उसने प्रथम अपराध [illegible] किया तब [illegible] कैसे कहा जा सकता [illegible] क्यों? [illegible]

अपराध को क्षमा करने के बाद भी उसे भूल नहीं पाया तो फिर क्षमा ही क्या किया ?

वस्तुतः बात यह है कि हमारी परिणति तो क्रोधादिमय हो रही है और शास्त्रों में क्षमादि को अच्छा कहा है; अतः हम शास्त्रानुसार अच्छा बनने के लिए नहीं, वरन् अच्छा दिखने के लिए किसी क्रोध के रूप को ही क्षमा का नाम देकर क्षमाधारी बनना चाहते हैं।

क्षमाभाव का सर्वोत्कृष्ट चित्रण तो –

अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-काँच, निंदन-थुति करन।
अर्घावतारन – असिप्रहारन में सदा समता धरन।।[1]

ऐसी स्थिति को प्राप्त समताधारी मुनिराज का चित्रण ही हो सकता है।

क्षमा कायरता नहीं, क्षमा धारण करना कायरों का काम भी नहीं, पर वीरता भी तो मात्र दूसरों को मारने का नाम नहीं है, दूसरों को जीतने का नाम भी नहीं। अपनी वासनाओं को, कषायों को मारना, विकारों को जीतना ही वास्तविक वीरता है। युद्ध के मैदान में दूसरों को जीतने वाले, मारने वाले युद्धवीर हो सकते हैं, धर्मवीर नहीं। धर्मवीर ही क्षमाधारक हो सकता है, युद्धवीर नहीं।

वीरता के क्षेत्र को भी हमने संकुचित कर दिया है। अब वीरता हमें युद्धों में ही दिखाई देती है, शान्ति के क्षेत्र में भी वीरता प्रस्फुटित हो सकती है, यह हमारी समझ में ही नहीं आता। यही कारण है कि हमें 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' को स्पष्ट करने के लिए हत्या दिखाना आवश्यक लगता है। हत्या दिखाये बिना वीरता का प्रस्तुतीकरण हमें सम्भव ही नहीं लगता।

जिस महापुरुष की लेखनी से यह महावाक्य प्रस्फुटित हुआ होगा, उसने सोचा भी न होगा कि इसकी ऐसी भी व्याख्या की जावेगी। एक हत्या भी क्षमा का एवं वीरता का प्रतीक बन जावेगी।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिन दशधर्मों की आराधना के बाद यह क्षमावाणी महापर्व आता है, उनकी चर्चा आचार्य उमास्वामी ने मुनिधर्म के प्रसंग में की है। दशधर्मों की आराधना का समग्र प्रतिफलन जिस क्षमावाणी में प्रस्फुटित होता है,

---

[1] पं० दौलतरामजी : छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ६

# लेखक के अन्य प्रकाशन

| | | |
|---|---|---|
| १. | पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व | १०.०० |
| २. | तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़] | ५.०० |
| | पाकेट बुक साइज (हिन्दी में) | २.०० |
| ३. | अपने को पहचानिए [हिन्दी, गुजराती] | ०.५० |
| ४. | सर्वोदय तीर्थ | २.०० |
| ५. | मैं कौन हूँ ? | १.०० |
| ६. | युगपुरुष श्री कानजी स्वामी | १.०० |
| ७. | अनेकान्त और स्याद्वाद | ०.३५ |
| ८. | तीर्थंकर भगवान महावीर [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, असमी, तेलगु] | ०.४० |
| ९. | वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका | ३.०० |
| १०. | पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य | ०.६५ |
| ११. | अर्चना [पूजन संग्रह] | ०.४० |
| १२. | बालबोध पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती, मराठी] | ०.७० |
| १३. | बालबोध पाठमाला भाग ३ [हिन्दी, गुजराती, मराठी] | ०.७० |
| १४. | वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ [हिन्दी, गुजराती] | ०.७० |
| १५. | वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती] | १.०० |
| १६. | वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ [हिन्दी, गुजराती] | १.०० |
| १७. | तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ | १.२५ |
| १८. | तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ | १.२५ |
| १९. | वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर | ०.२५ |
| २०. | सत्य की खोज ([illegible]) [हिन्दी, गुजराती] | २.०० |
| २१. | क्रमबद्धपर्याय | (प्रेस में) |

# अभिमत

लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं एवं विद्वानों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन –

★ पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी (उ० प्र०)

श्री भारिल्लजी की विचार-सरणि और लेखन शैली दोनों ही हृदयग्राही हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ दशधर्मों पर इतना सुन्दर आधुनिक ढंग का विवेचन इससे पहिले मेरी दृष्टि में नहीं आया, इससे एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। दशलक्षण पर्व में प्राय नवीन प्रवक्ता इसप्रकार की पुस्तक की खोज में रहते थे। ब्रह्मचर्य पर अन्तिम लेख मैंने पिछले आत्मधर्म में पढ़ा था, उसमें 'संसार में विषबेल नारी' का अच्छा विश्लेषण किया है। – कैलाशचन्द्र

★ पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी (म० प्र०)

दशधर्मों पर पंडितजी (डॉ० भारिल्ल) के विवेचन मैंने हिन्दी आत्मधर्म में भी पढ़े थे। मुझे उनको पढ़कर उसी समय बहुत प्रसन्नता का अनुभव हुआ था। नई पीढ़ी के विद्वानों में डॉ० भारिल्ल अग्रगण्य हैं। इनकी लेखनी को सरस्वती का वरदान है, ऐसा लगता है। डॉ० साहब ने साहित्य के क्षेत्र में इस पुस्तक पर सचमुच डॉक्टरी का प्रयोग किया है। दशधर्मों की औषधि का प्रयोग, दुर्विकारों की बीमारी का पूरा ऑपरेशन कर, बहुत सुन्दरता से किया है। इतना विशद सांगोपाङ्ग वर्णन आधुनिक भाषा व आधुनिक शैली में अन्यत्र दिखाई नहीं देता। पुस्तक आज के युग में नये विद्वानों को दशधर्म का पाठ पढ़ाने को उत्तम है। भाषा प्रांजल है। एक बार शुरू करने पर पुस्तक छोड़ने को जी नहीं चाहता। विषय हृदय को छूता है। कई स्थल ऐसे हैं जिनका अच्छा विश्लेषण किया गया है। – जगन्मोहनलाल जैन शास्त्री

★ पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी (उ० प्र०)

जिसप्रकार आगम में द्रव्य के आत्मभूत लक्षण की दृष्टि से उसके दो लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, उनके द्वारा एक ही वस्तु कही गई है; उसीप्रकार धर्म के आत्मभूतस्वरूप की दृष्टि से आगम में धर्म के दशलक्षण निबद्ध किये गये हैं। उनके द्वारा वीतराग-रत्नत्रयधर्मस्वरूप एक ही वस्तु कही गई है, उसमें अन्तर नहीं है। 'धर्म के दशलक्षण' पुस्तक इसी तथ्य को हृदयंगम कराने की दृष्टि से लिखी गई है। स्वाध्याय प्रेमियों को इस दृष्टि से इसका स्वाध्याय करना चाहिए। इससे उन्हें धर्म के स्वरूप को समझने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। आपके इस सफल प्रयास के लिए आप अभिनन्दन के पात्र हैं। वर्तमान काल में दशलक्षण पर्व को पर्युषण कहने की परिपाटी चल पड़ी है, किन्तु यह गलत परम्परा है। पर्व का सही नाम दशलक्षण पर्व है। इसे देखा-देखी पर्युषण कहकर वस्तुस्थिति को समझना चाहिए।…… आप अपनी लेखनी द्वारा समाज को इसीप्रकार मार्ग-दर्शन करते रहें। – फूलचन्द्र शास्त्री

* वयोवृद्ध विद्वान् ब्र० पं० मुन्नालालजी रांधेलीय(वर्णी), न्यायतीर्थ, सागर, म०प्र०

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित पुस्तक 'धर्म के दशलक्षण' की प्रशंसा पर्याप्त की जा रही है, वह योग्य है, उसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। उसको हम दूसरे रूप में लेते हैं। वह प्रशंसा जड़पुस्तक की नहीं है, अपितु उसके लेखक समाजमान्य चेतनज्ञान-धनी पं० भारिल्लजी की है। नई पीढ़ी में पंडितजी जैसे तलस्पर्शी तत्त्वज्ञ विद्वानों की अत्यन्त आवश्यकता है, खाली पदवीधारियों (लेबिलों) की नहीं। यद्यपि पंडितजी में और भी अनेक विशेषताएँ (कलाएँ) हैं, तथापि जो तत्काल आवश्यक है वह तर्कणा और प्रतिभा का संगम है, जो सोने में सुगंध है; वह भारिल्लजी में है।

वास्तव में धर्म का स्वरूप और उसके दश अंगों का चित्रण आजकल की भाषा में और आजकल के ढंग (वैज्ञानिक तरीका) में अतीव सुन्दर (मनोहारी) किया है जिसका हम हार्दिक समर्थन करते हैं।

* स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति पण्डिताचार्य, एम०ए०, शास्त्री, मूडबिद्री

समाजमान्य विद्वद्वर्य डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित 'धर्म के दशलक्षण' देखकर परम हर्ष हुआ। इसमें कोई दो राय नहीं है कि डॉ० भारिल्लजी सिद्धहस्त लेखक हैं और हैं प्रबुद्ध वक्ता।........उत्तमक्षमादि दशधर्मों का सूक्ष्म विश्लेषण सरल शैली में व्यक्त किया गया है। इस कर्तृत्व की सर्वोपरि विशिष्टता यह है कि इसमें दशधर्मों का तात्त्विक दृष्टि से सरस, सरल व सुबोध शैली से प्रतिपादन किया गया है। इस दृष्टि से दशधर्मों का विवेचन प्रायः अब तक देखने में नहीं आया है। दशधर्मों पर प्रस्तुत और भी जो कृतियाँ हैं, उनमें भी प्रायः तात्त्विक दृष्टि से विवेचन का पक्ष अगोचर ही रहा है। विद्वान लेखक ने उत्तमक्षमादि प्रत्येक धर्म पर तथ्यात्मक, रोचक व बहुत ही सुन्दर ढंग से सफल लेखनी चलाई है। नयनाभिराम मुद्रणादि से सम्पन्न प्रस्तुत 'धर्म के दशलक्षण' उपहार से पाठकों तथा समाज को सत्पथ का दिग्दर्शन तो होगा ही, साथ ही आत्मा के धर्म को पाने के लिए भी सम्यक् दिशा प्राप्त होगी।

— चारुकीर्ति

* पं० खीमचन्दभाई जेठालाल शेठ, सोनगढ़ (गुजरात)

आत्मा की पर्युपासना करने का महान मंगलमय पर्व ही पर्युषण है। [illegible] धर्म की आराधना मुख्यतया पूज्य मुनिराजों द्वारा होती है, उसका स्पष्ट [illegible] डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'धर्म के दशलक्षण' नामक पुस्तक में [illegible] है। [illegible] तात्त्विक दृष्टि से विचार करते आते हैं, [illegible] का अनुभव कराता है। इस [illegible] किया है, वह सराह[illegible]

प्रशंसनीय है और इसके लिए वे अभिनन्दन के पात्र हैं। उनके सब लेख सर्वत्र-सर्वदा-सर्वथा सब को धर्म-आराधना में अत्यन्त सहायक होंगे। – खेमचन्द

* सिद्धान्तरत्न पं० नन्हेलालजी, न्यायसिद्धान्तशास्त्री, राजाखेड़ा (राज०)

डॉ० भारिल्ल ने बड़ी गहराई के साथ दशलक्षणों का अपूर्व विवेचन किया है। अभी तक इस विषय में ऐसा सांगोपांग विवेचन अन्यत्र नहीं देखने में नहीं आया है। डॉ० भारिल्ल ने अपने प्रतिभागत तर्क-वितर्क और प्रश्नोत्तर की शैली में पुस्तक को अत्यधिक उपयोगी बना दिया है। डॉ० भारिल्ल के विशुद्ध क्षयोपशम की जितनी तारीफ की जावे कम है। मेरी शुभकामना है कि भारिल्लजी का भविष्य इससे भी अधिक उज्ज्वल और उन्नतिशील बने।

* डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य, वाराणसी (उ०प्र०)

……इसमें आपने अपनी सहज, अनुभवपूर्ण और गम्भीरतामय शैली से उक्त दशधर्मों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें संदेह नहीं कि आपका प्रयत्न बहुत सफल हुआ है। कहीं-कहीं चुटकी भी ली है……पर वह चुटकी गलत नहीं है।……ब्रह्मचर्य का जो चित्रण किया है वह अंश बो सगता है और वह उचित प्रतीत होता है।……मुझे आशा है आपकी सन्तुलित लेखनी द्वारा चारों अनुयोगों की उपयोगिता और महत्त्व पर भी एक ऐसी ही पुस्तक प्रस्तुत होगी। हार्दिक बधाई! पुस्तक का प्रकाशन और साज-सज्जा भी उत्तम है। – दरबारीलाल कोठिया

* पं० बंशीधरजी शास्त्री, एम० ए०, जयपुर (राज०)

पहले पं० सदासुखजी के दशधर्मों पर विवेचन पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। दो-एक अन्य लेखकों के भी पढ़े हैं, किन्तु इस पुस्तक में धर्मों पर समीचीन एवं सर्वांगीण विवेचन सहज एवं सरल शैली में किया गया है। इसमें धर्मों की निश्चय-व्यवहार के आधार से सुन्दर बोधगम्य परिभाषा निर्धारित की गई है। दशधर्मों एवं क्षमावाणी के सम्बन्ध में कई भ्रान्तियों का निरसन युक्तिपूर्ण ढंग से किया गया है। इसप्रकार यह पुस्तक विद्वान् एवं साधारण वर्ग के लिये उपयोगी बन गई है। इसका पठन-पाठन विद्यालय के छात्रों से भी करवाना चाहिये। पर्यूषण पर्व के अतिरिक्त भी इसका निरन्तर अध्ययन प्रत्येक तत्त्वजिज्ञासु को करना चाहिए। ऐसे सुन्दर एवं सम्पूर्ण विवेचन के प्रकाशन के लिए सभी सम्बन्धित व्यक्ति धन्यवाद के पात्र हैं।

* डॉ० पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य, सागर, मंत्री, श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

आकर्षक आवरण, हृदयहारी साजसज्जा, छपाई, सुबोध भाषा और हृदय पर सद्यः प्रभाव करने वाली वर्णन शैली से पुस्तक का महत्त्व बढ़ गया है। इस सर्वोपयोगी प्रकाशन और लेखन के लिए धन्यवाद। – पन्नालाल जैन

★ श्री अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर (राजस्थान)

आत्मधर्म में जबसे दशलक्षणों सम्बन्धी भारिल्लजी की लेखमाला प्रकाशित होने लगी मैं रुचिपूर्वक उसे पढ़ता रहा। डॉ० भारिल्ल के मौलिक चिन्तन से प्रभावित भी हुआ। उन्होंने धर्म के दशलक्षणों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट किये हैं, अन्य कई बातें विचारोत्तेजक व मौलिक हैं। अब तक इन लक्षणों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा व लिखा जाता रहा है, पर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करना सबके वश की बात नहीं है। डॉ० भारिल्ल में जो प्रतिभा और सूझ-बूझ है उसका प्रतिफलन इस विवेचन में प्रगट हुआ है। आशा है इससे प्रेरणा प्राप्त कर अन्य विद्वान भी नया चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। डॉ० भारिल्ल ने जो प्रश्न उपस्थित किये हैं वे बहुत ही विचारणीय व मननीय हैं। धर्म और अध्यात्म के सम्बन्ध में उनका चिन्तन और भी गहराई में जावे और वे मौलिक तथ्य प्रकाशित करते रहें, यही शुभ कामना है। प्रस्तुत ग्रंथ का अधिकाधिक प्रचार वांछनीय है। प्रकाशन बहुत सुन्दर हुआ है और मूल्य भी उचित रखा गया है। — अगरचंद नाहटा

★ श्री अक्षयकुमारजी जैन, भूतपूर्व सम्पादक 'नवभारत टाइम्स', दिल्ली

……पुस्तक बहुत उपयोगी और सामयिक है। सीधी-सादी भाषा में धर्म के दशलक्षणों का सुन्दर विवेचन डॉ० भारिल्ल ने किया है। मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार होगा जिससे सामान्यजन को लाभ पहुँचेगा। — अक्षयकुमार जैन

★ पं० ज्ञानचंदजी 'स्वतंत्र', शास्त्री, न्यायतीर्थ, गंजबासौदा (विदिशा – म० प्र०)

डॉ० भारिल्लजी जैन-जगत के बहुचर्चित, बहुप्रसिद्ध, उच्चकोटि के विद्वान हैं। विद्वत्ता के साथ-साथ आप प्रखर सुवक्ता, कुशल पत्रकार, ग्रंथ निर्माता, सुकवि भी हैं। दशलक्षण धर्म पर अनेक मुनियों, विद्वानों एवं त्यागियों ने छोटे-बड़े ग्रंथ एवं पुस्तकें लिखी हैं, पर उन सब में डॉ० भारिल्लजी द्वारा लिखित "धर्म के दशलक्षण" ग्रंथ सर्वोपरि है। इसमें आध्यात्मिक विधा (शुद्ध निश्चय) के आधार पर [illegible] सैद्धान्तिक विवेचना की है। भाषा [illegible], सुबोध एवं सुरुचिपूर्ण है। [illegible] भी [illegible] [illegible] मन में [illegible] बनी रहती है। [illegible] है। [illegible] सुन्दर, [illegible], मौलिक रचना [illegible] [illegible] है। — ज्ञानचंद जैन 'स्वतंत्र'

★ [illegible] (मराठी)

[illegible]

[illegible]

हुआ है। इस परिश्रमसाध्य निरामय पुरुषार्थ की हार्दिक सराहना है। पुस्तक बहुत ही उपयुक्त एवं प्रेरणादायी प्रतीत हुई है। — माणिकचंद भीसीकर

• डॉ० देवेन्द्रकुमारजी जैन, प्रोफेसर, इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर (म० प्र०)

…ये लेख आत्मधर्म के सम्पादकीय में धारावाहिकरूप से प्रकाशित होते रहे हैं, परन्तु उनका एक जगह संकलन कर ट्रस्ट ने बढ़िया काम किया। इससे पाठकों को धर्म के विविध लक्षणों का मनन, एक साथ, एक दूसरे के तारतम्य में करने का अवसर प्राप्त होगा। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि लेखों की भाषा इतनी सरल और सुबोध है कि उसमें आम आदमी भी तत्त्व की तह में पहुँच सकता है। डॉ० भारिल्ल ने परम्परागत शैली से हटकर धर्म के क्षमादि लक्षणों का सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इसलिए उसमें धार्मिक नीरसता के बजाय सहज मानवी स्पंदन है……। विश्वास है कि यह पुस्तक लोगों को धर्म की अनुभूति की प्रेरणा देगी। — देवेन्द्रकुमार जैन

• डॉ० भागचन्द्रजी जैन भास्कर, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र)

डॉ० भारिल्ल समाज के जाने-माने विद्वान, व्याख्याता हैं। उनकी व्याख्यान किंवा प्रवचन शैली बड़ी लोकप्रिय हो गई है। वही शैली इस पुस्तक में आद्योपान्त दिखाई देती है। विषय और विवेचन गंभीर होते हुए भी सर्वसाधारण पाठक के लिए ग्राह्य बन गया है। अतः लेखक एवं प्रकाशक दोनों अभिनन्दनीय हैं। — भागचन्द्र जैन भास्कर

• महामहोपाध्याय डॉ० हरीन्द्रभूषणजी जैन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल नई पीढ़ी के प्रबुद्ध, लगनशील एवं उच्चकोटि के विद्वान हैं।……'धर्म के दशलक्षण' उनकी अपने ढंग की एक सर्वथा नवीन कृति है। डॉ० भारिल्ल ने अपनी इस रचना में अत्यन्त सरल भाषा में जैनधर्म के मौलिक दश आदर्शों का प्राचीन ग्रंथों के उद्धरणों के साथ सोदाहरण विवेचन किया है। दशधर्मों का ऐसा शास्त्रीय निरूपण अभी तक एकत्र अनुपलब्ध था। पर्यूषण पर्व में व्याख्यान करने वालों को तो यह कृति अत्यन्त सहायक होगी। — हरीन्द्रभूषण जैन

• डॉ० प्रेमसुमनजी जैन, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०)

…डॉ० भारिल्ल ने बड़ी रोचक शैली में धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है। अध्यात्म में रुचि रखने पाठकों के लिए इस पुस्तक में चिन्तन-मनन की भरपूर सामग्री है। मेरी ओर से डॉ० भारिल्ल को इस सुन्दर एवं सारगर्भित कृति के लिए बधाई प्रेषित करें। — प्रेमसुमन जैन

★ इतिहासरत्न, विद्यावारिधि डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल, जयपुर (राज०)

····दशधर्मों पर डॉ० भारिल्ल सा० के लेखों को पुस्तकरूप में प्रकाशित करके बहुत अच्छा काम किया है। विद्वान् मनीषी ने अपनी सुबोध शैली में दशधर्मों पर सारगर्भित एवं मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं, जिनको पढ़कर प्रत्येक पाठक इन धर्मों के वास्तविक रहस्य को सरलता से जान सकता है तथा उन पर चिन्तन एवं मनन कर सकता है। पुस्तक की छपाई एवं गेट-अप दोनों ही नयनाभिराम हैं। — कस्तूरचन्द कासलीवाल

★ डॉ० ज्योतिप्रसादजी जैन, लखनऊ (उ० प्र०)

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल आध्यात्मिक शैली के प्रतिष्ठित सुचिन्तक, सुवक्ता, सुलेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने प्रसादगुण-सम्पन्न शैली में धर्म के उत्तमक्षमादि दश पारम्परिक लक्षणों अथवा आत्मिक गुणों का युक्तियुक्त विवेचन किया है, जो सैद्धान्तिक से अधिक मनोवैज्ञानिक है, और साधक को विभिन्न भूमिकाओं के परिप्रेक्ष्य में अन्तर एवं बाह्य, निश्चय एवं व्यवहार, विविध दृष्टियों के समावेश के कारण विचारोत्तेजक है; अतः पठनीय एवं मननीय है। — ज्योतिप्रसाद जैन

★ डॉ० राजेन्द्रकुमारजी बंसल, कार्मिक अधिकारी, ओ. पी. मिल्स, शहडोल (म० प्र०)

·······लेखक ने आत्मकल्याण-परक पाठकों एवं सत्यान्वेषी जिज्ञासुओं के लिए सारगर्भित, उपयोगी एवं तलस्पर्शी सामग्री प्रस्तुत की है, जिसे पढ़कर पाठक के मन में अज्ञानतायुक्त परम्परागत धार्मिक क्रियाओं की निःसारता स्वतः सहजरूप से प्रकट हो जाती है। लेखक चिन्तनशील पाठक के हृदय को उद्वेलित करने में सफल रहा है। — राजेन्द्रकुमार बंसल

★ डॉ० राजकुमारजी जैन, प्रोफेसर, आगरा कॉलेज, आगरा (उ० प्र०)

डॉ० भारिल्ल ने इस ग्रंथ में धर्म के दशलक्षणों की बड़ी ही वैज्ञानिक एवं हृदयस्पर्शी विवेचना की है। दशलक्षण धर्म पर अध्यात्मचिन्तन-प्रधान एवं मनोरम विवेचना प्रथम बार ही देखने को मिली। ग्रंथ के प्रत्येक पृष्ठ पर डॉ० भारिल्ल के गहन अध्यात्मचिन्तन एवं उनकी सरल, सुबोध तथा मर्मस्पर्शी शैली के दर्शन होते हैं। निश्चय ही इस ग्रंथ के प्रचार-प्रसार से आत्मार्थी जनों [illegible] और उनमें यथार्थ धर्म-चेतना जागृत होगी। [illegible] — राजकुमार जैन

★ डॉ० [illegible] जैन, इन्दौर (म० प्र०), संपादक 'तीर्थंकर' (मासिक)

[illegible]

यह है कि अधिकांश लोग विज्ञान के अर्थ पर तो तुरन्त सहमत हो जाते हैं, किन्तु वे ही लोग धर्म के अर्थ पर एक नहीं हो पाते।" किन्तु जब कोई 'धर्म के दशलक्षण' को आद्यन्त पढ़ जाता है तो उसे आइन्स्टीन की गांठ खोलने में काफी सुविधा होती है। वस्तुतः उसे इस किताब में से धर्मान्धता के बाहर होने की एक तर्कसंगत निसैनी मिल जाती है। श्री कानजी स्वामी ने धर्म को विज्ञान का धरातल दिया है, और प्रस्तुत पुस्तक उसी शृंखला की एक और प्रशस्त कड़ी है। मुझे विश्वास है इसे पूर्वाग्रहों और मतभेदों से हटकर धर्म की एक निष्कलुष, निर्मल, निर्धूम छवि पाने के लिए अवश्य पढ़ा जाएगा। डॉ० भारिल्ल बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने एक सही वक्त पर सही काम किया है। अभी हमें विद्वान् लेखक से लोकचरित्र को ऊँचाइयाँ प्रदान करने वाले अनेकानेक ग्रन्थों की अपेक्षा है।
— नेमीचन्द जैन

* डॉ० कन्छेदीलालजी जैन, साहित्याचार्य, शहडोल (म०प्र०), सह-सं० 'जैन संदेश'

पुस्तक में प्रत्येक धर्म के अन्तरंग पक्ष को अच्छी तरह स्पष्ट किया है। छपाई तथा टाइप नयनाभिराम है। मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ न होना भी प्रकाशन की विशेषता है।
— कन्छेदीलाल जैन

* डॉ० कुसुमभूषण लोखंडे, सोलापुर (महाराष्ट्र), संपादक 'विश्वध्वनि' (मासिक)

अध्यात्म-विद्या के लोकप्रिय प्रवक्ता तथा उच्चकोटि के विद्वान डॉ० हुकमचंद भारिल्ल द्वारा लिखित "धर्म के दशलक्षण" नामक पुस्तक में पर्यूषण में होने वाले उत्तमक्षमादि दशधर्मों के संबंध में मार्मिक विवेचन प्रस्तुत हुआ है। इस ग्रन्थ में डॉ० भारिल्लजी ने दशलक्षण महापर्व के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवरण देकर उत्तमक्षमा से लेकर उत्तमब्रह्मचर्य तक प्रत्येक धर्म का गंभीर एवं तलस्पर्शी विवेचन किया है।........डॉ० भारिल्ल की दृष्टि वैसे पर से स्व तक ले जाने की, विकार से निर्विकार की ओर या विभाव से स्वभाव की ओर ले जाने की सूक्ष्म है, फिर भी सरल है, वह इस ग्रन्थ के द्वारा स्पष्ट होता है। हम समझते हैं कि ऐसे मुमुक्षुओं व धर्म के तत्त्वों का सही चिन्तन प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ की अतीव आवश्यकता है। वह आवश्यकता डॉ० भारिल्ल ने इस ग्रन्थ द्वारा पूर्ण की है।
— कुसुमभूषण लोखंडे

* डॉ० नरेन्द्र भानावत, प्राध्यापक, राज० विश्वविद्यालय, सम्पादक 'जिनवाणी'

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल प्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवक्ता होने के साथ-साथ प्रबुद्ध विचारक, सरस कथाकार और सशक्त लेखक हैं। उनकी नव प्रकाशित पुस्तक 'धर्म के दशलक्षण' एक उल्लेखनीय कृति है। इसमें उत्तमक्षमा-मार्दव आदि दशधर्मों का गूढ़ पर सरल, कमनीय एवं रोचक, वैध, विवेचन–विश्लेषण हुआ है। लेखक ने धर्म के इन लक्षणों को विसंगतियों के रूप में

प्रस्तुत कर धर्म, मनोविज्ञान और साहित्य का सुन्दर समन्वय किया है। लेखक आत्मीय संवेदन के धरातल से प्रेरित होकर अपनी बात अवश्य कहता है, पर वह उसकी रूढ़िवादिता व गतानुगतिकता से ऊपर उठकर धर्म की प्रगतिशीलता एवं मनस्तत्त्वता को रेखांकित करता हुआ उसे शाश्वत जीवनमूल्य के रूप में व्याख्यायित करता है। भारिल्लजी की यह दृष्टि पुस्तक को मूल्यवत्ता प्रदान करती है। हार्दिक बधाई !

– नरेन्द्र भानावत

★ डॉ० हीरालालजी माहेश्वरी, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'धर्म के दशलक्षण' पुस्तक पढ़कर अतीव प्रसन्नता हुई। जैनधर्म-प्रेमियों के लिए विशेषत: और अध्यात्म-प्रेमियों के लिए सामान्यत: यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय और विचारोत्तेजक है।

★ श्री उदयचन्द्रजी जैन, प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ०प्र०)

....पुस्तक का बाह्य रूप जितना आकर्षक है उसका आभ्यन्तर रूप भी उससे अधिक आकर्षक है। इसमें संदेह नहीं कि पुस्तक अत्यन्त उपयोगी और सारगर्भित है। इसमें धर्म के उत्तमक्षमादि दशलक्षणों का मार्मिक, तात्त्विक और व्यावहारिक विवेचन किया गया है। भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियों से पुस्तक उपादेय तथा पठनीय है। धर्म का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए प्रत्येक श्रावक को इसका अध्ययन, मनन और चिन्तन अवश्य करना चाहिए। डॉ० भारिल्ल उच्चकोटि के लेखक और वक्ता हैं। – उदयचन्द्र जैन

★ प्रो० प्रवीणचंद्रजी जैन, निदेशक, उच्चस्तरीय अध्ययन अनुसंधान केन्द्र, जयपुर

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल एक प्रबुद्ध आत्माभिमुख व्यक्तित्व हैं। उनकी वाणी में ओज और शब्दों में ऋजुता है। उनकी लेखनी से प्रसूत 'धर्म के दशलक्षण' नामक कृति उस ओर प्रवृत्त मानवों को तो अज्ञानमूलक रूढ़ियों के [illegible] करेगी ही, साधारण-जन भी जिन्हें बहिर्मुख कहा जा सकता है यदि इसे एक बार आद्योपान्त पढ़ जाएँ तो निश्चय ही उनकी [illegible] भी ओर [illegible] हो सकेगी। डॉ० भारिल्ल को इस [illegible] के लिए धन्यवाद अर्पित करते हुए मैं चाहता हूँ कि यह कृति [illegible] पढ़ें और इसके अध्ययन से अपना जीवन सार्थक करें। [illegible] – प्रवीणचंद्र जैन

★ [illegible]

[illegible]

आबाल-गोपाल की शैली में वर्णन कर समाज के सामने एक अमूल्य निधि प्रदान की है, जिसकी प्रतीक्षा समाज लम्बे अरसे से कर रही थी। लौकिक उदाहरण प्रस्तुत कर जटिल विषयों को सरल बनाकर उत्कण्ठासहित पाठकों को साथ ले जाने का जो उपक्रम है, वह मुक्तकण्ठ से प्रशंसनीय है। – भरतचक्रवर्ती शास्त्री

* पं० अमृतलालजी जैन, साहित्याचार्य, वाराणसी (उ० प्र०)

'धर्म के दशलक्षण' ग्रंथ को मैंने अथ से इति तक अक्षरशः ध्यान से पढ़ा, और प्रसन्नता का अनुभव किया। विद्वान् लेखक ने प्रतिपाद्य विषय की संपुष्टि के लिए यत्र-तत्र-सर्वत्र आगम के प्रमाण देकर प्रस्तुत ग्रंथ को प्रामाणिक बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। बीच-बीच में सुन्दर सूक्तियों एवं उदाहरणों के देने से प्रस्तुत ग्रंथ और भी आकर्षक हो गया है। बोधगम्य, सरल एवं सरस हिन्दी माध्यम में लिखा गया यह ग्रंथ साधारण पाठक को भी आसानी से समझ में आ जाएगा। ऐसे ग्रंथ के प्रणयन के लिए प्रणेता डॉ० भारिल्ल, जो प्रवक्ता, सिद्धहस्तलेखक एवं कुशल अध्यापक हैं, धन्यवाद एवं बधाई के पात्र हैं, और प्रकाशन संस्था भी। – अमृतलाल जैन

* राजस्थान पत्रिका (इतवारी पत्रिका), दैनिक, जयपुर, ३ सितम्बर १९७८

………डॉ० हुकमचंद भारिल्ल ने पर्व के महत्त्व को मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से जुड़े हुए भाद्र मास में जैन समाज द्वारा दशलक्षण पर्व के वास्तविक स्वरूप को पहिचानने की ओर इंगित किया है।……… जैन शास्त्रों के व्याख्याता, दार्शनिक विचारक डॉ० हुकमचंद भारिल्ल द्वारा लिखी गई यह पुस्तक पठनीय, मननीय एवं धारण करने लायक है। – विशनसिंह शेखावत

* राष्ट्रदूत, दैनिक, जयपुर, २१ जनवरी १९७९

लेखक ने क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य के उत्तरोत्तर विस्तार पर प्रकाश डालते हुए व्यावहारिक जीवन में इनके प्रयोगों पर जोर दिया है। जीवन के इन दस धर्मों अथवा चरित्र विकास के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को हटाने में ये लेख सहयोगी हो सकते हैं।

दस चरित्र वाले मानवीय गुणों के विकास में धार्मिक या सम्प्रदायिक संकीर्णता बंधन नहीं हो सकती। उदात्त चरित्र के विकास व उनके लोक-व्यवहार में ढालने से समाज स्वस्थ हो सकता है। इसी दृष्टिकोण से यह पुस्तक उपयोगी है। उन लोगों के लिए भी जो धर्म अथवा लोक-परलोक में अधिक आस्थावान नहीं है, यह पुस्तक चारित्रिक गुण विकास दृष्टिकोण से तो लाभदायी सिद्ध हो सकती है।

पुस्तक उन लोगों को अवश्य आकर्षित करेगी जो इस दौड़-धूप भरी दुनिया से विरत होने व शुद्ध चरित्र निर्माण के वास्ते भूमिका निरूपण चाहते हैं।

* वीर (पाक्षिक), मेरठ, दिनांक १ जनवरी १९७९

वह एक ऐसी अनुपम कृति है जिसका स्वाध्याय करके प्रत्येक व्यक्ति सहज ही आत्म-कल्याण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा पाता है। श्रद्धेय डॉक्टर साहब ने दशधर्मों का स्वरूप बहुत विस्तार से, सरल भाषा में प्रस्तुत करके महान उपकार किया है। पुस्तक अनेक ग्रंथियों को खोलने तथा धर्म के नाम पर अज्ञानतारूपी अंधकार को नष्ट करने में सहायक है। एक तरफ जहाँ हमने धर्म को संकीर्णता के दायरे में जकड़ रखा है, डॉक्टर साहब ने उससे ऊपर उठाकर उसे जन-जन के हृदय तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। डॉ० भारिल्ल ने इस प्रकार विश्लेषण किया है कि पुस्तक एक बार हाथ में लेकर उसे छोड़ने को मन ही नहीं करता। डॉ० भारिल्ल एक मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उन्होंने इस ग्रंथ की रचना करके मानव समाज पर महान उपकार किया है। — राजेन्द्रकुमार जैन

* वीरवाणी (पाक्षिक), जयपुर, ३ दिसम्बर १९७८, वर्ष ३१, अंक ४-५

……डॉ० भारिल्ल ने सरल व रुचिकर भाषा में धर्म के इन लक्षणों का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। दृष्टान्त द्वारा तत्त्व को समझाना उनकी अपनी विशेषता है जो इस पुस्तक में सर्वत्र देखी जाती है।……क्षमा-मार्दव आदि सभी विषयों में पूजा की पंक्तियों को लेकर पाठक को खूब समझाया है।……यह नवीन शैली की कृति अपनी विशेषता रखती है। पाठक इससे अवश्य लाभान्वित होंगे। क्षमावाणी पर अच्छा लिखा है। — भँवरलाल न्यायतीर्थ

* जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक), विदिशा, १६ नवम्बर १९७८, वर्ष २, अंक ३६

समाज के जाने-पहिचाने प्रसिद्ध विचारक दार्शनिक विद्वान् डॉक्टर हुकमचंद भारिल्ल की यह कृति विषयवस्तु, भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियों से परिष्कृत एवं अत्यन्त उपयोगी है। यद्यपि इसकी विषयवस्तु परम्परागत ही है तथापि चिन्तन-विवेचन एवं प्रतिपादन-शैली से यह एकदम नये रूप में प्रस्तुत हुई है।……इन निबन्धों को पढ़कर हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकारों पर लिखे गये निबन्धों की याद आये बिना नहीं रहती है। क्षमावाणी का निबन्ध तो अपने ढंग का बिल्कुल ही अनूठा है, इसे कहानी भी कहा जा सकता है। — रतनचंद भारिल्ल

* सन्मति-वाणी (मासिक), इन्दौर, दिसम्बर १९७८, वर्ष ८, अंक ६

[illegible] — नाथूलाल शास्त्री

* सन्मति संदेश (मासिक), दिल्ली, जनवरी १६७६

दशलक्षण धर्मों के चिन्तनीय स्वरूप को आत्मधर्म में आद्योपान्त पढ़कर मेरी भी यही भावना थी कि यदि ये पुस्तकाकार प्रकाशित हो जावें तो जिज्ञासु जीवों को धर्म का मर्म समझने में अत्यधिक प्रेरणा मिलेगी।......इसमें दशधर्मों पर सरल-सुबोध भाषा में प्रकाश डाला है, धर्म के अन्तःस्वरूप का आगम और तर्क के परिप्रेक्ष्य में हृदयस्पर्शी, मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। डॉ० भारिल्ल धर्म के स्वरूप को बड़ी सूक्ष्मदृष्टि और तर्क की कसौटी पर कसकर मननीय बना देते हैं, साथ में रोचकता भी बनी रहती है। — प्रकाशचंद 'हितैषी'

* डॉ० देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री, व्याख्याता, शासकीय महाविद्यालय, नीमच (म०प्र०)

निबन्धों के रूप में तात्त्विक विश्लेषण प्रस्तुत करने वाली यह रचना जिस धरातल पर लिखी गई है वह सचमुच अनूठी है। इसमें ज्ञान का पुट तो है ही, पर विवेचन की सहज रंगीन शैली में दृष्टान्तों का प्रयोग भी पर्याप्त रूप से लक्षित होता है। कहीं-कहीं व्यंग्य भी मुखर हो उठा है। धर्म के दस लक्षणों का विवेचन करने में विभिन्न दृष्टियों का भी उचित समावेश हुआ है। मनोविज्ञान और विभिन्न सामाजिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में इसका मूल्यांकन सभी प्रकार से महत्त्वपूर्ण है।

इस पुस्तक की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि प्रत्येक बात इतनी स्पष्टता के साथ युक्तिपूर्ण ढंग से कही गई है कि आदि से अन्त तक रोचकता परिलक्षित होती है। वास्तव में निबंध की शैली में ये भाषण ही हैं। लेखक के सामने श्रोता है, वह स्वयं वक्ता है। इसलिये उनको समझाने की दृष्टि से जितनी बातें कही जा सकती हैं उनको क्रमबद्ध रूप में कहा है। इसमें लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से इनमें झाँकता हुआ दिखलाई पड़ता है। अपनी बात को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए चलती हुई भाषा के शब्द-प्रयोगों का भरपूर उपयोग किया गया है। चलती हुई भाषा में ही लेखक की 'टोन' का पैनापन मालूम पड़ता है और इसी के कारण पुस्तक में सर्वत्र नयापन आ गया है। क्योंकि तर्क और युक्तियाँ किसी सीमा तक ही अपने विषय की स्थापना करने में सक्षम होती हैं। लेखक ने उनको छोड़ा नहीं है, घुमा-फिराकर उनसे बराबर काम लिया है, लेकिन उनके आगे अपनी शैली की छाप लगाने में भी नहीं चूका है। यही लेखक की सबसे बड़ी सफलता है जो उनकी प्रतिभा की सूझ-बूझ को प्रकट करने वाली है।

लेखक का विषय-विवेचन ऐसा है कि साधारण व्यक्ति भी बिना किसी कठिनाई के सरलता से समझ सकता है। उदाहरण के लिए उत्तम क्षमा

है – "सारी दुनिया परिग्रह की चिन्ता में ही दिन–रात एक कर रही है, मर रही है। कुछ लोग पर-पदार्थों के जोड़ने में मग्न हैं, तो कुछ लोगों को धर्म के नाम पर उन्हें छोड़ने की धुन सवार है। यह कोई नहीं सोचता कि वे मेरे हैं ही नहीं, मेरे जुड़ने से जुड़ते नहीं और ऊपर से छोड़ने से छूटते भी नहीं।" यद्यपि कहीं २ लेखक की टोन उग्र हो गई है, किन्तु विषय के प्रतिपादन में ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि इसके बिना उसकी बात में बल नहीं आ सकता था। फिर, ऐसा भी लगता है कि रचना में आदि से अन्त तक इसी प्रकार की अभिव्यक्ति होने से यह लेखक का अपना व्यक्तिगत गुण है जो उसके व्यक्तित्व की अभिव्यंजना के साथ प्रकट हो गया है। इसलिये यह विशेषता ही मानी जायेगी।

यद्यपि धर्म के दश लक्षणों को दश धर्म मानकर आज तक जैन समाज में कई छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं और उनका कई बार प्रकाशन भी हो चुका है; किन्तु जिस तरह की यह पुस्तक लिखी गई है, निस्सन्देह यह अनूठी है। इसकी विलक्षणता यह है कि इस में निश्चय और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों का सन्तुलन कर धर्म की वास्तविकता का विवेचन किया गया है। सही बात को समझाने का बराबर ध्यान रखा गया है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल की यह महत्त्वपूर्ण रचना न केवल अध्यात्म-दृष्टि वालों के लिए ही उपयोगी है, वरन् व्यवहार की दृष्टि रखने वाले भी इसे पढ़कर व्यवहार की सचाई को भी सहज समझ सकते हैं। दशलक्षणी पर्व में व्याख्यान देने वाले पण्डितों के लिए तो इस पुस्तक का एक बार वाचन कर लेना – मैं अनिवार्य समझता हूँ। जब तक हम धर्म की वास्तविकता को नहीं समझेंगे, तब तक भली भांति सिद्धान्तों से अनुप्राणित जनता को कैसे समझा सकते हैं? फिर प्रत्येक विषय का लेखक ने विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है। इसलिये यह मानना अनुचित नहीं है कि विद्वान् लेखक ने सबके हितों के वास्ते ही इस रचना का निर्माण किया है।

आशा है विद्वज्जन ऐसी रचनाओं का स्वागत सादर करेंगे।

—देवेन्द्रकुमार शास्त्री